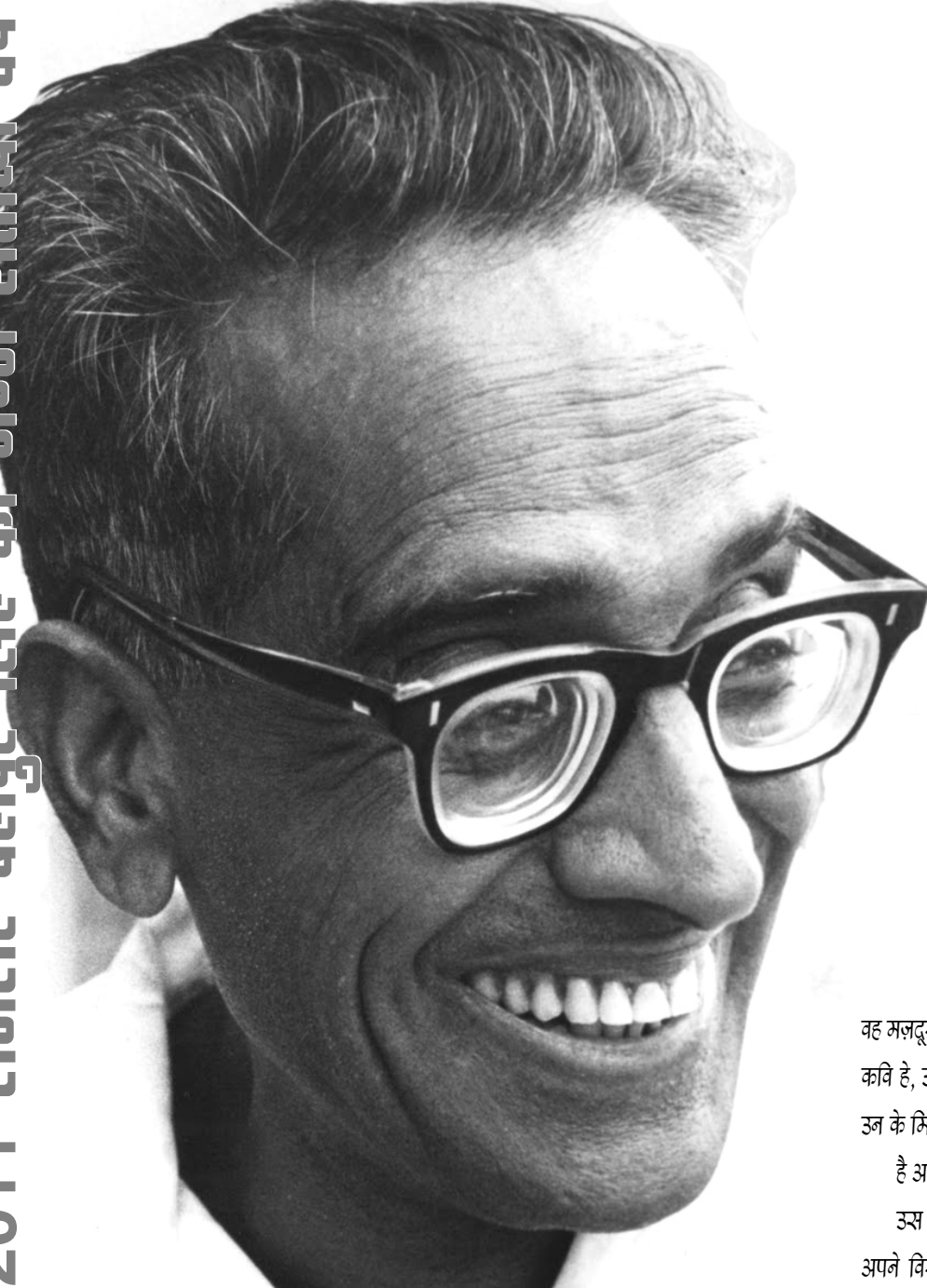


समरथ



मार्च-अप्रैल 2011 ♦ नई दिल्ली

2011 शमशेर बहादुर सिंह का जन्म शताब्दी वर्ष



वह मज़दूर किसानों के स्वर हठी
कवि है, उन में अपना हृदय मिलाओ!
उन के मिट्टी के तन में है अधिक आग,
है अधिक ताप!
उस में कवि है,
अपने विरह मिलने के पाप जलाओ!

नाहि तो जनम नसाई

2011 शमशेर बहादुर सिंह का जन्म शताब्दी वर्ष

शमशेर के बारे में : जन्म, देहरादून, 3 जनवरी 1911, मध्यवर्ग के जाट परिवार में। पिता स्व. चौधरी तारीफ़सिंह, एलम (मुज़फ़्फ़रनगर) निवासी, कलकटरी में चीफ़ रीडर थे; गोण्डा, देहरादून, बुलन्दशहर रहे। शादी देहरादून, 1930। सन् 1934 में पत्नी का देहांत। बी.ए. इलाहाबाद से 1933 में किया। सन् 1935-36 में वकील। स्कूल ऑव आर्ट में चित्रकला का अभ्यास। सन् 1938-39 में रूपाभ में काम। सम्पादक, 'कहानी', 1941-42; सम्पादक, 'नया साहित्य' बम्बई, 1946-47।

रचनाएँ : 'उदिता', 'बात बोलेगी, हम नहीं', 'कुछ कविताएँ', 'कुछ और कविताएँ' (कविता संग्रह); दोआब (लेख संग्रह)।

बाद में प्रकाशित कविता संग्रह हैं : 'इतने पास अपने', 'चुका भी नहीं हूँ मैं', 'काल, तुझसे होड़ है मेरी'। साहित्य अकादेमी पुरस्कार, म.प्र. शासन के तुलसी पुरस्कार आदि विशिष्ट पुरस्कारों से सम्मानित। अनेक भारतीय भाषाओं के अलावा कई विदेशी भाषाओं में कविताएँ अनूदित।

सन् 1993 में अहमदाबाद में देहावसान।



स्वतंत्रता दिवस पर-1940

■ शमशेर

फिर वह एक हिलोर उठी-

गाओ!

वह मज़दूर किसानों के स्वर कठिन हठी
कवि हे, उन में अपना हृदय मिलाओ!
उन के मिट्टी के तन में है अधिक आग,
है अधिक ताप!
उस में कवि हे,

अपने विरह मिलने के पाप जलाओ!

काट बुर्जुआ भावों की गुमठी को-
गाओ!

अति उन्मुक्त नवीन प्राण स्वर कठिन हठी!

कवि हे, उन में अपना हृदय मिलाओ!

सड़े पुराने अन्ध-कूप गीतों के

अर्थहीन हैं भाव, मूक भीतों के-

उन्हें अपरिचय का लांछन दे बिल्कुल आज भुलाओ!

नूतन प्राण-हिलोर उठी

तुम, जिस ओर उठी, उठ जाओ!

कवि हे...

भारत की आरती

(१५ अगस्त, १९४७)

भारत की आरती
देश-देश की स्वतंत्रता देवी
आज अमित प्रेम से उतारती।

निकटपूर्व, पूर्व, पूर्व-दक्षिण में
जन-गण-मन इस अपूर्व शुभ क्षण में
गाते हैं घर में हों या रण में
भारत की लोकतन्त्र-भारती।

गर्व आज करता है एशिया
अरब, चीन, मिस्र, हिन्द एशिया
उत्तर की लोक-संघ शक्तियाँ
युग-युग की आशाएँ वारतीं।

साम्राज्य पूँजी का क्षत होवे
ऊँच-नीच का विधान नत होवे
साधिकार जनता उन्नत होवे
जो समाजवाद जय पुकारती।

जन का विश्वास ही हिमालय है
भारत का जन-मन ही गंगा है
हिन्द महासागर लोकाशय है
यही शक्ति सत्य को उभारती।

यह किसान कमकर की भूमि है।
पावन बलिदानों की भूमि है
भव के अरमानों की भूमि है
मानव इतिहास को सँवारती।

एक स्वप्न

कौन आज मुझे खास बात समझाने को
दिल में आता है?

और दूर से यह गाता है!

“सुनता हूँ, साह कोई मरा,

और एक चोर नहीं डरा, नहीं डरा।

रात हुई खतम, दिन जब आलोक से भरा,-

उतरी एक लाल परी

उस को पिलाने को स्वर्ग की लाल मदिरा।

‘नहीं, नहीं, नहीं पिऊँगा-मैं अभी और जिऊँगा।’

ओस चमकी हरी-नीली। दूर तक खेत लहरा।

बोली वह आँखों में, बिजली की भाषा में-

‘चल, यहाँ कौन ठहरा!’

सुन यह, स्वप्न-चोर ताकने लगा उदास

नभ ओर, ताकने लगा नभ ओर। ताकने लगा।”

सुनकर मन पछताता है :

आह, मैं चोर न हुआ!

हाय, मुझे कुछ नहीं आता!

जग से मरने का ही मेरा नाता है!

खाने को, जीवन-पेट दिखलाता है जग में, बस!

हाय, वह बिजली-परी, लाल-लाल मदिरा लिये

मेरे दिल से न उतरी!

जीना तो तुझ को भी आता है!

भारत की साझी विरासत : कुछ असहज करने वाले प्रश्न

■ सुभाष गाताडे

साझी विरासत का सवाल हिन्दोस्तां ही नहीं बल्कि दक्षिण एशिया के इस हिस्से में जनमानस में व्याप्त अतीत की कुछ अच्छी स्मृतियों से जुड़ा सवाल रहा है। 1857 के महासमर को हम उस अहम मुकाम के तौर पर देख सकते हैं जब साझी विरासत का यह सिलसिला चरम परवान पर दिखा, जब दोनों समुदायों के लोगों ने, सैनिकों ने बहादुरशाह जफर को--जिनका अपना राज बहुत सिमट चुका था--अपना बादशाह घोषित किया। उर्दू जैसी जुबान के विकास को इसके नायाब प्रतिफलन के रूप में हम देख सकते हैं, जो यहीं की जमीं पर पैदा हुई, फली-फूली और आगे बढ़ी। आजादी के आंदोलन में रामप्रसाद बिस्मिल एवं अशफाकउल्ला खां की साझी शहादत या आजादी के वक्त अहमदाबाद के बसंत एवं रजब की शहादत ऐसी कई मिसालें हमें अपने भूले-बिसरे इतिहास में मिल सकती हैं। पिछले दिनों में आंध्र प्रदेश की यात्रा पर गया था, वहां मेरे मित्र इनायतुल्ला ने--जो तेलगू के मशहूर लेखक एवं सामाजिक कार्यकर्ता हैं--मुझे बताया कि सूबे के कई जिलों में आज भी अगर मुस्लिम परिवार में संतान जनमती है तो गांव के पंडित को बुलावा भेजा जाता है जो संतान का 'नाम' निकालता है। बिहार के सीवान जिले के ग्रामीण इलाकों की यात्रा में मैं यह देख कर चकित-सा था कि जब मोहरम का ताज़िया उठता था तो सबसे पहला मलीदे का प्रसाद गांव के एक कायस्थ परिवार की तरफ से चढ़ाया जाता था, ताज़िया बनाने में हिंदू महिलाएं भी अपने स्तर पर योगदान देती थीं। यहां तक कि मेरे एक मित्र रोहित, जिनका जन्म वहां सीवान के पास के गांव में हुआ था, उनके जनमने पर सामने रहने वाली इस्माइल की मां ने मांगी मन्त का राज खुला। और रोहित जब पांच साल का हुआ तो ताज़िये के सामने चलने वाले 'हजीरी हुजुरा' में 'तलवार भांज कर' उस मन्त को पूरा किया गया। मुझे याद है बचपन में मेरी अपनी मां जिस श्रद्धाभाव से सिद्धीविनायक मंदिर में जाती थी, उसी श्रद्धाभाव से मलंगबाबा की दरगाह पर हम भाई-बहनों को लेकर जाती थी।

कई सारे उदाहरण हम सभी अपने-अपने जीवन से या सामाजिक दायरे से पेश कर सकते हैं, जो हमारी इस साझी विरासत को बयां करते हों। सबसे पहला सवाल जो मन में उमड़ता है वह इस 'साझी विरासत' की विशिष्टता का जिसे कोई गंगा-जमनी तहजीब के नाम से पुकारता है तो कोई किसी अन्य

नाम से! आप पाएंगे कि यूं तो कोई भी समाज किसी खास मुकाम पर अपने अतीत के जनों, संस्कृतियों की मिली-जुली विरासत का वाहक समझा जा सकता है! दुनिया में शायद ही ऐसा कोई टापू हमें मिले जहां पर रहने वाले बाशिंदे, समुदाय अन्य लोगों, समुदायों के साथ किसी न किसी किस्म की अंतर्क्रिया में न मुब्तिला रहे हों, फिर वह चाहे आक्रमण के रूप में हो, व्यापार के रूप में हो या घूमने-फिरने के लिए आए मुसाफिरों के रूप में हो।

यह अलग बात है कि हिंदोस्तां के संदर्भ में इस शब्द का खास अर्थ (कनोटेशन) आम तौर पर प्रचलित है, जिसका ताल्लुक मूलतरु इस्लाम कबूल किए लोगों, समुदायों के साथ यहां बसे अन्य जनों-समुदायों की चली लंबी अंतर्क्रिया से लगाया जाता है। इसके उदाहरण के तौर पर खान-पान, संगीत, वास्तुकला, भाषा, जुबान रहन-सहन के तरीकों के स्तर पर निर्मित संश्लेषण (सिंथेसिस) से लगा सकते हैं।

कोई यह पूछ सकता है कि अगर यह हमारी साझी विरासत है जो सदियों की अंतर्क्रिया से विकसित हुई है--जिसके विकासक्रम को लेकर किसी को एतराज भी नहीं है तो फिलवक्त हम उसे लेकर इस कदर परेशां क्यों हैं? आम तौर पर किसी भी मसले पर, परिघटना पर तभी बात मुमकिन हो पाती है जब वह गतिमान दिखती है ...बदलाव में ...संक्रमण में दिखती है और चूंकि हमारी इस साझी विरासत को विच्छिन्न करने की कोशिशें परवान चढ़ती दिख रही हैं, इस ताने-बाने में चूंकि दरारें पड़ती दिख रही हैं, इसकी वजह से ही बात करना ज़रूरी हो चला है।

अपनी चिंता को साझा करने के लिए हम अयोध्या की चर्चा कर सकते हैं। निश्चित तौर पर अगर यहां अयोध्या का नाम लिया जाए तो एक खास तरह की तस्वीर उभरती है। विगत लगभग पच्चीस सालों से अयोध्या-फैजाबाद का इलाका कुछ अन्य कारणों से ही चर्चित रहा है। यहां पांच सौ साल से कायम रही बाबरी मस्जिद के विध्वंस की जो लंबी-चौड़ी मुहिम चली, जिसकी परिणति उसकी तबाही में हुई और उसी स्थान पर राम के अस्थायी किस्म के मंदिर का निर्माण किया गया, इससे हम सभी वाकिफ हैं। यह अकारण नहीं कि अयोध्या का नाम आते ही लोगों के मन की आंखों के सामने हिंसा एवं आगजनी से भरा वह अतीत नमूदार हो जाता है, जिसका खामियाजा

तमाम निरपराधों ने पूरे मुल्क में भुगता। इस मुहिम के चलते हिंदुत्ववादी शक्तियों को सत्ता पर काबिज होने का मार्ग निश्चित ही सुगम हुआ था। वैसे अगर हम इतिहास के पन्नों को पलटें तो अलग तरह की तस्वीर दिखती है। यही वह इलाका है जो 1857 के महासमर के केंद्र में था जिसमें हिंदू एवं मुसलमानों ने कंधे से कंधा मिला कर संघर्ष किया था। अहमदुल्लाह और मौलवी अमीर अली के पराक्रम की उन दिनों की गाथाएं आज भी लोगों के बीच सुनी जा सकती हैं। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में बाबा रामचंद्र की अगुआई में किसानों की जो हलचलें इस इलाके में चली उनकी खासियत थी इन दोनों समुदायों के लोगों की सहभागिता। आप को मालूम होगा कि बाबा रामचंद्र को फांसी की सजा हुई थी। हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन के अगुआ और काकोरी कांड को अंजाम देने वालों में अग्रणी शहीद रामप्रसाद बिस्मिल के अनन्य साथी अशफाकउल्ला खान को यहीं फांसी पर चढ़ाया गया था।

गौरतलब है कि अयोध्या गंगा-जमुनी तहजीब की एक नायाब मिसाल पेश करता रहा है। यह बात भी रेखांकित करने वाली है कि अयोध्या में सिर्फ हिंदू एवं मुसलमानों के ही श्रद्धास्थान नहीं हैं वहां जैन, सिख यहां तक कि बौद्धों के विभिन्न श्रद्धास्थान मौजूद हैं। वी बी रावत नामक एक सामाजिक कार्यकर्ता ने अयोध्या के इस अतीत पर एक फिल्म का निर्माण भी किया है। उनके मुताबिक जैनों के धर्मग्रंथों में इसे विशाखा के तौर पर संबोधित किया जाता है। यह भी कहा जाता है कि महावीर के बाद आए पांच तीर्थंकरों ने यहीं जनम लिया। यहां बना ब्रह्मकुंडसाहिब गुरुद्वारा गुरु नानक की यात्रा की याद दिलाता है। हरिद्वार से पुरी जाते वक्त वह यहां रुके थे। गुरु नानक ही नहीं गुरु गोविंद सिंह तथा गुरु तेगबहादुर ने भी यहां प्रवचन दिए हैं।

विभिन्न मंदिरों के अलावा अयोध्या में छोटे बड़े अस्सी से अधिक दरगाह हैं जहां पर दोनों समुदायों के लोग जाते हैं। ताशकंद के युवराज रहे सैय्यद इब्राहिम शहा बाबा दरगाह, इरान के समनान सूबे का राजा सैयद अब्दुल जहांगीर समनानी का दरगाह या बड़ी बुआ जैसी महिला संत का दरगाह खास रूप में चर्चित है। अयोध्या को शहर-ए-औलिया अर्थात् सूफियों का शहर भी कहा जाता है। कुछ मुस्लिम विद्वानों के मुताबिक अयोध्या की अहमियत को देखते हुए उसे 'खुर्द मक्का' अर्थात् छोटी मक्का के नाम से भी संबोधित किया जाता है।

इसमें कोई दो राय नहीं कि विगत ढाई दशक से अधिक समय से अयोध्या के बहाने देश के राजनीतिक-सामाजिक जीवन में जो कुछ घटित हुआ है, अयोध्या को खास रंग में ढालने के जो प्रयास चले हैं, उसमें अयोध्या के इस साझे अतीत पर बहुत गर्द जम गयी दिखती है। लेकिन क्या सिर्फ अयोध्या ही बदला है?

हम यह भी देख सकते हैं कि दक्षिण एशियाई उपमहाद्वीप के इस हिस्से में बने हिंदोस्तां में ही नहीं बल्कि किसी वक्त उसका हिस्सा रहे अगल-बगल के मुल्कों में जैसे पाकिस्तान हो या बांग्लादेश- भी इस साझी विरासत से मुंह फेरने की या उसे खास रंग-रूप में ढालने की समानांतर प्रक्रिया चलती दिख रही है। पाकिस्तान या बांग्लादेश से आने वाली ऐसी खबरें आप ने पढ़ी होंगी कि जिन इलाकों में कट्टरपंथियों का जोर है, वहां सूफी संप्रदाय की मजारों पर जाने की मनाही कर दी गयी है, कुछ मजारें वीरान हो चली हैं, तो कुछ पर संगीत गाने पर रोक लगा दी गयी है। कट्टरपंथियों का यह मानना है कि यह 'गैर-इस्लामिक' बातें घुस आयी हैं। विगत कुछ समय में पाकिस्तान की कई मजारों पर आत्मघाती हमले भी हुए हैं ताकि वहां जाकर इबादत करने वालों को डरा दिया जाए।

पिछले दिनों मैंने पाकिस्तान के मशहूर भौतिकीविद् एवं मानवाधिकार कार्यकर्ता परवेज हुदभॉय का लेख पढ़ा था 'द सऊदाइजेशन ऑफ पाकिस्तान' अर्थात् पाकिस्तान का सऊदीकरण जिसमें वह सऊदी अरब में प्रचलित वहाब मत के पाकिस्तान में बढ़ते प्रभाव की चर्चा करते हैं जिसके अंतर्गत लोकसंस्कृति में लंबे समय से जड़मूल तमाम प्रथाओं से किनारा करने की, 'विशुद्ध इस्लाम' की तरफ बढ़ने की या महिलाओं को अधिकाधिक परदे में रखने की चर्चा करते हैं। आज से चार साल पहले जब मोहतरमा खालिदा जिया बांग्लादेश की वजीरे आजम थीं, जिन दिनों ऐसे कट्टरपंथी तत्वों को शह मिली थी, उस वक्त एक संगीत कार्यक्रम पर हुए आतंकी हमले की खबर सुर्खियां बनी थीं, जिसे वहां के दोनों समुदायों के लोगों ने पेश किया था। आतंकी समूहों का गुस्सा इस बात पर था कि आखिर ऐसी चीजें क्यों की जा रही हैं जिन पर मनाही है।

योगिंदर सिकंद नामक एक सेक्सुलर विद्वान हैं जो साझी संस्कृति से जुड़े मसलों पर नियमित लिखते रहते हैं, उन्होंने देश के ऐसे विभिन्न स्थानों का दौरा कर एक किताब ही लिख डाली है कि किस तरह ऐसे स्थानों को विशिष्ट धर्म के रंग-रूप में ढाला जा रहा है। साईबाबा को ही देखें -शिरडी के इस सूफी संत का जिस तरह हिंदूकरण किया गया है वह हम सबके सामने है।

एक दूसरे विद्वान हैं बद्री नारायण जो इलाहाबाद में एक शोध संस्थान में कार्यरत हैं जिन्होंने भी इस मसले पर लेखन किया है। वह बहराइच के गाजी मियां की मजार के रूपान्तरण का किस्सा बयां करते हैं कि किस तरह देखते ही देखते उसे विशिष्ट धर्म-संप्रदाय के प्रतीक के रूप में ढाल दिया गया। साझेपन से तौबा करके इकहरे आगे बढ़ने की इन कोशिशों की छाया जुबानों पर भी पड़ी है। अगर हम जुबानों के विकास को ही देखें तो पता चलता है कि जिस तरह आधुनिक हिंदी का

विकास फारसी एवं अरबी शब्दों को ढूँढ-ढूँढ कर निकाल कर संपन्न हुआ उसी तरह उर्दू से भी तमाम तत्सम शब्द निकाले गए और उसका अधिक फारसीकरण किया गया। आजादी के वक्त जिस हिंदोस्तानी का प्रचलन था, जिसमें उर्दू के तमाम शब्द थे - जिसे राष्ट्रभाषा बनाने पर महात्मा गांधी का जोर था वह पता नहीं कहां दफन हो गयी।

आज कल जब पढ़े-लिखे लोग भी अपने दड़बों तक या अपने घेड़ों तक सिमटते दिख रहे हैं उस वक्त इस साझी विरासत की निर्माण प्रक्रिया पर सोचना विस्मयकारी लग सकता है।

मैंने खुद इस विषय का विस्तृत अध्ययन नहीं किया है, मगर हम अंदाजा लगा सकते हैं कि इसके लिए उस जमाने के शासक वर्गों ने कोई विशेष प्रयास नहीं किए होंगे, लोगों के मिले-जुले प्रयासों से, दैनंदिन जीवन में साथ रहने-जीने की जरूरतों में इनका निर्माण हुआ होगा। एक धर्मसंप्रदाय विशेष की कमियों, खामियों से परेशान लोगों ने दूसरे धर्म संप्रदाय से उसकी अच्छी चीजें सीखने की कोशिश की होगी। कहीं अचेत कहीं सचेत ढंग से लेन-देन का यह सिलसिला आगे बढ़ा होगा। एक तरह से कह सकते हैं कि साझी संस्कृति की ताकत यही थी कि वह जिंदगी के उन दायरों तक सीमित थी जिसमें सत्ता का सवाल शामिल नहीं था। यह साझापन या मेल-जोल तब तक अक्षुण्ण बना रहा जब तक उसमें बाहर से या ऊपर से कोई हस्तक्षेप या दखल नहीं दिया गया। एक बार जब दखल शुरू हुआ फिर चाहे अभिजात वर्गों की तरफ से हो या राज्य की तरफ से हो, तब इस साझापन में दरारें पड़ने का सिलसिला शुरू हुआ।

औपनिवेशिक काल में जब धीरे-धीरे सत्ता का प्रश्न अलग-अलग समूहों का केन्द्रीय सरोकार बनता गया, तब अगुआ स्थिति में खड़े लोगों, समूहों के लिए यह आवश्यक हुआ कि वे लोगों को अपने पीछे गोलबन्द करें। भारतीय समाज में राजनीतिक लामबन्दी का यह चरण था और जिसके अन्तर्गत जो दौड़ में थे वे एक अलग, नए मुकाम तक पहुंच सके। यह विचारणीय मसला है कि क्या इस साझी विरासत को नए सिरे से हासिल किया जा सकता है या उसकी तरफ लौटा जा सकता है? मेरे एक मित्र अक्सर यही कहते हैं कि यह भारत की साझी संस्कृति ही है जिसने अभी तक हमें बचाया है। प्रश्न उठता है कि क्या इस साझी विरासत को हम नए सिरे से पा सकते हैं या नहीं?

मेरे खयाल से समूचे मुल्क में जिस तरह का वातावरण बना है उसमें पुराने दौर को लौटाने की बात सोचना आकाशकुसुम पाने की अभिलाषा जैसा लगता है, हां, जितना बचा है उसकी

हिफाजत अवश्य की जा सकती है। दूसरे यह भी समझने की जरूरत है कि इस साझी विरासत के कुछ ऐसे पहलू होंगे जिन पर हम आज भी नाज कर सकते हैं या जिन्हें हम आज भी आगे ले जाना चाहेंगे, मगर कुछ ऐसी भी बातें, पहलू हो सकते हैं जिन पर अपने समय की गहरी छाप पड़ी हो, जो 21वीं सदी के भारतीय समाज के लिए बेकार हो गए हों। मिसाल के तौर पर क्या इस साझी विरासत में तर्क, बुद्धि, वैज्ञानिक चिन्तन, आत्मप्रश्नेयता की प्रधानता थी या अनुभव, स्वीकार, समर्पण, रहस्यवाद की प्रधानता थी। क्या इस विरासत में स्त्रियों के, शूद्रों, अतिशूद्रों की वंचना की स्थिति पर कोई प्रश्नचिह्न था या उसे नियति मान उसका स्वीकार था? एक तरीका यह हो सकता है कि हम अपनी समूची मेधा इस साझी विरासत की हिफाजत में लगा दें और इसकी विसंगतियों, विषमताओं, विडम्बनाओं पर परदा डाले रहें। दूसरा तरीका यह हो सकता है कि एक समतामूलक समाज के निर्माण के लिए न्याय, प्रगति और शान्ति की त्रिसूत्री के साथ हम आगे बढ़ें और इस संकल्प को पूरा करने में अपनी समूची मेधा एवं क्षमता को लगा दें। नया रचने की इस कोशिश में ही अतीत की अच्छी चीजों को बचाया जा सकता है। किसी ने ठीक कहा है 'रचोगे तो बचोगे।'

अंतिम प्रश्न यह उठता है कि रचने की शुरुआत कहां से की जाए? निश्चित ही उसका आगाज हम अपने घर से, अपने मोहल्ले से अपने कस्बे से कर सकते हैं। इतिहास इस बात का गवाह है कि बहुत बड़े-बड़े कामों की शुरुआत ऐसे लोगों ने की, जो गुमनाम रहे, हम लाख कोशिश करें हम उनका नाम-पता कभी नहीं जान पाएंगे। यह समझने की जरूरत है कि साझी विरासत का विलोम अगर इकहरी या साम्प्रदायिक विरासत है जो विशिष्ट रंग, रूप, समुदाय में जनमे व्यक्ति को सर्वोच्च मानती है तो इसे भेदने का सबसे आसान तरीका है घेड़ोकरण के इस सिलसिले को लगातार छोटी बड़ी चुनौती देना। रचनात्मक कामों से लेकर संघर्षात्मक कामों के लम्बे सिलसिले के जरिए जनजागृति को आगे बढ़ाते जाना। आप पाएंगे कि कोई किसी भी संप्रदाय का हो, समुदाय का हो, खुदा या ईश्वर को मानने वाला आस्तिक हो या ईश्वर के अस्तित्व को चुनौती देने वाला नास्तिक हो, हम सबके दुख, हम सबकी परेशानियों, हम सबकी हसरतों में कितना कुछ साझा है, कितना कुछ एक जैसा है। इन विभिन्न रंग-रेखाओं को एक दूसरे के साथ जोड़ने की कोशिश करेंगे तो आप पाएंगे कि आप अकेले नहीं है। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के लब्ज दोहराते हुए कह सकता हूं : विपत्ति में तुम अकेले नहीं हो, असंख्य सोते कुलबुलाते हैं चट्टानों में, इन्हें पहचानो, राह निकलेगी, निश्चय...।

स्वशासन, सांप्रदायिकता और झारखंडी जनगण

■ फैसल अनुराग

स्वशासन झारखंडियों की न केवल आकांक्षा है बल्कि राजनीतिक चेतना भी। इस राजनीतिक अवधारणा ने लंबे समय से झारखंड में अनेक आंदोलनों और वैचारिक संघर्ष को जन्म दिया है। झारखंडी जनसमाज की मान्यता है कि ग्राम सभाएं जितनी मजबूत होंगी झारखंडी राजनीति का चेहरा और तरीका भी उतना ही प्रभावी तरीके से बदलेगा। कानूनी संघर्षों के अनेक उतार-चढ़ाव के बाद झारखंड में पंचायत चुनाव हो रहे हैं। इन चुनावों के बाद के हालात के प्रति अनेक तरह की प्रवृत्तियां झारखंड के लोगों के बीच मौजूद है। जनतंत्र की असली ताकत ही असहमति और विभिन्न तरह के विचारों के बीच समन्वय स्थापित करना है। यह तथ्य है कि पंचायतराज की भूमिका और उसकी भागीदारी को ले कर झारखंड में आम राय नहीं है। एक ओर जहां अनुसूचित क्षेत्रों के मूलवासी भागीदारी के नजरिए से अपने को ठगा हुआ महसूस कर रहे हैं वहीं दूसरी ओर आदिवासियों के एक तबके को भी लग रहा है कि जिन सामाजिक संस्थाओं ने लोकतंत्र के देशज रूपों को विकसित किया है उसका इस प्रणाली में समावेश नहीं किया गया है। इन दो रुझानों को ध्यान में रखने के बाद भी यह कहा जा सकता है कि झारखंड में यदि समावेशी उन्नति को जमीन तक पहुंचाना है और आर्थिक प्रगति का दरवाजा पूरी तरह खोलना है और साथ ही विकास के विस्थापनकारी स्वरूप को भी बदल कर झारखंडी समुन्नति की राह पकड़नी है तो उसमें लोगों के हाथ में वास्तविक निर्णय की शक्ति जरूरी है। इस नजरिए से संवादहीनता को खत्म करते हुए पंचायतराज को व्यापक संदर्भ में देखने-परखने की जरूरत है। पंचायतों के चुनाव के बाद यह सवाल संजीदा है कि क्या आदिवासी इलाकों को स्वशासन का लक्ष्य हासिल करने में सहूलियत होगी या उन्हें इसके लिए एक नए संघर्ष के लिए आगे होना होगा।

भारतीय संविधान ने आदिवासी इलाकों के लिए विशेष प्रावधान किए हैं। यानी इस तथ्य को स्वीकार किया गया है कि आदिवासी इलाकों की राजनीतिक, सामाजिक और भौगोलिक बनावट अलग तरह की है और इसके लिए इन इलाकों में खास तरह के हस्तक्षेप की जरूरत है। यह विशिष्टता क्या है। संविधान सभा की बहसों में इस पर काफी चर्चा हो चुकी है। इस तथ्य को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता कि संविधान की पांचवीं और छठी अनुसूची बनाते समय इस तथ्य को ध्यान में रखा गया था कि आदिवासी समाजों के साथ रहने वाले अन्य समुदायों के राजनीतिक हित प्रभावित नहीं हों। लेकिन इस तथ्य को स्वीकार कर ही आगे बढ़ा जा सकता है कि आदिवासी इलाकों की आकांक्षाएं प्राकृतिक संसाधनों के साथ उनके विशिष्ट नजरिए से निर्धारित होता है। लेकिन इसमें उन समुदायों के राजनीतिक अधिकारों तथा प्रतिनिधित्व में भागदारी के रास्ते बंद नहीं होते जो आदिवासी समाजों के साथ रहते हुए भी अपनी अलग पहचान रखते हैं। भूरिया कमेटी की बहसों में इस पर भारी विवाद हुआ है। पंचायत उपबंध-अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तार-अधिनियम 1996 को लेकर जिस तरह के सामाजिक तनाव का माहौल बनाया गया है वास्तव में इस कानून की अधूरी समझ का ही परिचायक है।

आखिर गांव की सत्ता का अर्थ क्या है? क्या यह केवल कागजी बात है या इसके जनतांत्रिक विमर्श के व्यापक आधार और बहस का संदर्भ भी है। वंचित और उत्पीड़ित जनसमाजों के हाथ में सत्ता जाने से आखिर किसे परेशानी होती है और यदि पंचायत कानून इन वंचितों के लिए इंसाफ की राह बनाता है तो इससे परेशान होने के बजाय इसमें छूट गए जनसमुदायों को भी अधिकार के साथ प्रतिनिधित्व देने के लिए नए रास्ते की तलाश की जरूरत है। इस तथ्य को स्वीकार कर ही

इस बहस को आगे बढ़ाया जा सकता है। क्योंकि पंचायतराज न केवल झारखंड का राजनीतिक चेहरा बदल सकता है बल्कि समुन्नति की राह में छलांग भी लगा सकता है। कई जानकार मानते हैं कि ग्रामसभाओं की सशक्ति का अर्थ है एक नई राजनीतिक परिघटना में प्रवेश। यदि इतिहास से तुलना कर देखा जाए तो भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि झारखंड के आदिवासियों और मूलवासियों ने साथ रहने और अधिकारों के शांतिपूर्ण भागीदारी का तरीका हमेशा से ही अपनाया है। हो सकता है कि इसकी दिशा में झारखंड के राजनीतिज्ञों को जिस तरह की भूमिका निभाने की जरूरत थी उसमें चूक हुई हो लेकिन यह एक बड़ा अवसर है जिसमें संभावनाएं अंतर्निहित हैं। इसलिए किसी भी तरह के अतिवाद से बचते हुए सत्ता के विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया को तेज करने की जरूरत है। इससे न केवल विकास का अर्थ ही बदलेगा बल्कि झारखंड के लोग जिस तरह के विकास या उन्नति का सपना देखते हैं उसे जमीन पर उतारने का मौका भी मिलेगा। यह तभी संभव है जब सामुदायिकता और सहिया की झारखंडी विरासत में किसी भी तरह की खरोच न पहुंचायी जाए। साथ ही झारखंड की सामाजिक संरचना तथा उसके सांस्कृतिक इतिहास को भी ध्यान में रखा जाए। झारखंड का सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास कई अर्थों में एक साथ कई अवधारणाओं का संपुजन है। इस प्रयोग से जनतंत्र में वास्तव में जन की सत्ता को मजबूत किया जा सकता है और साथ ही जल, जंगल जमीन पर झारखंडियों के हक की स्थापना तथा इस संदर्भ में न्यायपूर्ण वितरण और संवर्द्धन से पूरे देश को दिशा दी जा सकती है।

1996 से 2000 का जमाना याद कीजिए। यह वह दौर था जब 'आबुआ हातू आबुआ राज का' के नारे से न केवल पूरा झारखंड आंदोलित था बल्कि हजारों गांवों में पत्थलगड़ी की गयी और इस घोषणा में आस्था प्रकट की गयी कि अब एक नया जमाना आ रहा है जिसमें वंचितजन अपने हक की न केवल हिफाजत करेंगे बल्कि झारखंडी सामाजिक ढांचे को और मजबूती मिलेगी। यह आंदोलन झारखंड आंदोलन की तरह ही व्यापक फलक

लिए हुए था और इसमें झारखंड के सभी जनसमुदायों की भागीदारी थी। जिन गांवों में स्वशासी प्रणाली कमजोर पड़ गयी थी वहां स्वतःस्फूर्त ग्रामसभाओं का गठन कर लिया गया और संसाधनों पर हक के बारे में गांव में समझ का विस्तार हुआ। अनेक विचारक मानते हैं कि इतिहास में जनपहल के ऐसे दौर कम ही आते हैं। लेकिन तब भी कई हलकों में इस जन उभार को लेकर चिंता की रेखाएं दिखती थीं। यहां इस सवाल की प्रासंगिकता है कि झारखंड के लोगों ने हजारों सालों से आपसी संवाद से ही सामाजिक विवाद को हल किया है तो आज किन कारणों से ऐसा संभव नहीं हो रहा है। देश के 9 राज्य पांचवीं अनुसूची में शामिल हैं और झारखंड को छोड़ कर शेष आठ राज्य पेसा के तहत पंचायतराज के सहारे आगे बढ़ रहे हैं। झारखंड में विवाद वास्तव में जितना कानूनी नहीं है उतना वह वर्चस्व का है। झारखंड में ऐसे वर्चस्व के लिए इतिहास में उदाहरण नहीं मिलते हैं। फिलवक्त पंचायतों को गांवों की तस्वीर बदलने के केंद्र में बदलने की जरूरत है और साथ ही इस बात की भी कि सामाजिक तौर पर सहमति का रास्ता बनाया जाए।

झारखंड के क्रांतिकारियों ने एक ऐसे स्वशासी समाज का सपना देखा था जिसमें राजनीतिक एवं आर्थिक शोषण के लिए स्थान नहीं होना था क्योंकि झारखंड का देशज बोध और सामुदायिक जनतंत्र का बुनियादी आधार ही समानता और शोषण विहीनता है। झारखंडी विद्रोहों की परंपरा का सारतत्व उसकी साम्राज्यवाद विरोधी धारा इस चेतना के विपरीत आचरण की है। एक ओर जंगल-जमीन पर जनाधिकार की बात की जाती है तो दूसरी ओर विश्व बैंक तथा बहुराष्ट्रीय निगमों के लिए परिप्रेक्ष्य भी तैयार किया जाता है। समाजीकरण झारखंड का एक अन्य तत्व है जिसे आज का नेतृत्व समझने से ही इन्कार करता है। समाजवादी मूलक झारखंडी समाज पर 1760 के बाद से ही सामंतवाद थोपा गया और इस कारण अभिजनों का एक तबका अस्तित्व में आया। ये अभिजन आज इतिहास चेतना की स्वशासी आकांक्षा की वास्तविक पृष्ठभूमि के बारे में जानकारी तक नहीं रखते बल्कि

इसके विरोध में खड़े हैं।”

झारखंड में स्वशासी गांव व्यवस्था जब तक सुदृढ़ नहीं होगी तब तक नए झारखंड का निर्माण असंभव है। झारखंड में परंपरागत संस्कृति में उपजे मूल्यों का आंदोलन पर गहरा प्रभाव रहा है जिसे हाल के दशकों में नजरअंदाज किया गया। आंचलिक विषमता के कारण विघटन की प्रक्रिया और बढ़ी। संविधान की 5वीं अनुसूची को पूरी तरह नजरअंदाज करने का नतीजा यह निकला कि विकसित इलाके से आयी संस्कृति ने झारखंडी भाषा एवं संस्कृति को प्रदूषित किया।

झारखंड की एक और विशेषता यह है कि यहां कि उत्पीड़ित जातीयता का आंदोलन तथा मजदूर आंदोलन जैसी दो महत्वपूर्ण घटनाएं मौजूद हैं। मगर यह सच्चाई है कि ये दोनों आंदोलन न सिर्फ अलगाव में पड़े हुए हैं बल्कि एक-दूसरे के विरोधी होते जा रहे हैं। किसानों की शक्ति असंगठित है। कुछ इलाकों में सामंतवादी प्रभाव के कारण किसानों की चेतना पिछड़ी हुई भी है जबकि सामुदायिक इलाकों में चेतना का एक अन्यतम रूप है। यह अंतर्विरोध भी है कि आदिवासी खदान मेहनतकश जनता को अलग प्रांत के नारे पर संगठित तो किया गया लेकिन एक रूपाकार संस्कृति की तलाश नहीं की जा सकी और न ही एक स्पष्ट आर्थिक सामाजिक संरचना का लक्ष्य निर्धारित किया जा सका। यहां गौर करने की बात है कि आदिवासी समुदाय के भावी उत्थान को सुनिश्चित करने के लिए केवल अलग झारखंड प्रांत ही पर्याप्त नहीं होगा बल्कि उसके आर्थिक सामाजिक हित तथा सांस्कृतिक पहचान के लिए जनजातीय स्वशासी अंचल की भी जरूरत होगी। इसकी सिफारिश भूरिया कमेटी की रिपोर्ट में भी की गयी है।

पेसा के तहत अनेक विशेषाधिकार गांवों को संविधान दे रहा है साथ ही झारखंड के लोगों को मानसिक तौर पर इस बात के लिए भी तैयार होने की जरूरत है कि जमाना बदल रहा है। झारखंड की ग्रामीण अर्थ व्यवस्था को विरासत के मूल्यों के आधार पर गति देना है तथा उसमें विकास भी करना है। इसका अर्थ है किस प्राकृतिक संसाधनों पर झारखंडियों के निर्णायक

हक के साथ तकनीक की दुनिया में प्रवेश करना है और तकनीक को झारखंडी मूल्यों के अनुरूप अपनाने की जरूरत है। देश के अनेक राज्यों ने पंचायती कानून के सहारे ही ग्रामीण विकास में लोगों की भागीदारी और आकांक्षा के लिए स्थान बना लिया है। केरल में जिस तरह गांव से योजना निर्माण की प्रक्रिया अपनायी गयी है उससे केरल में जनतंत्र के प्रति लोगों में न केवल विश्वास गहराया है बल्कि उन्हें लगता है कि समुन्नति का इतिहास लिखने में उनकी भी भूमिका है। इसी तरह पश्चिम बंगाल में भी पंचायतों ने राजनीतिक तौर पर गांवों की दशा और नेतृत्व में व्यापक बदलाव का मार्ग बनाया है। गोवा में पंचायतों के कारण ही कई गांव न केवल विस्थापन के शिकार होने से बचे हैं बल्कि पर्यावरण के प्रति नजरिया काफी कुछ बदल सकता है। पश्चिम घाट के आंदोलनों और गांवों की सक्रियता के अनेक अनुभवों से हम बहुत कुछ सीख सकते हैं।

पेसा के बारे में ज्यादा समझ बनाने की जरूरत है। उसे अतिवादी नजरिए से खारिज कर हम झारखंड में जनतंत्र में वास्तविक जन की ताकत का ही निषेध करेंगे। पेसा झारखंड के ग्रामीण संरचना, उसके रीति-रिवाज और सांस्कृतिक पहचान को बचाए रखने की गारंटी करता है। जब संविधान सभा में बोलते हुए मरांग गामके जयपाल सिंह ने कहा था कि लोकतंत्र झारखंडी जनगण की आत्मा और रक्तप्रवाह है जिसके बिना झारखंड के होने का मतलब नहीं है। उन्होंने यह भी कहा था कि झारखंड के लोग सदियों से निर्णय लेने और जीने के जनतांत्रिकता के साथ ही जीवंत जनसमाज हैं। इसे बार-बार प्रमाणित भी किया गया है। वक्त आ गया है कि भावी इतिहास बनाया जाए और गांव स्वशासन की मंजिल हासिल की जाए।

झारखंड के आदिवासी ग्रामीण इलाकों के सांप्रदायिकीकरण की एक सुनियोजित परियोजना को अमल में लाने की दिशा में सांप्रदायिक ताकतें सक्रिय हैं। उनका मूल मकसद उस साझी विरासत को खत्म कर देना है जो आदिवासी-मूलवासी को एक रखता है ओर सांस्कृतिक तौर पर संघर्ष करने की प्रेरणा देता है। इस साझी विरासत और संघर्ष का नतीजा यह है कि

104 कंपनियों के साथ एमओयू करने के बाद भी आदिवासी इलाकों में जनगण की बेदखली संभव नहीं हो पायी और प्राकृतिक संसाधनों पर सामूहिक हक की आवाज बुलंद होती रही। बड़ी कंपनियों के प्रयासों को जनगण ने नाकाम किया। हाल के इतिहास को देखा जाए तो झारखंड की इस खासियत को समझना होगा कि तमाम प्रयासों के बाद भी आंदोलन कमजोर नहीं हुए हैं और जनगण ने उन्हें जमीन और जंगल का एक भी इंच नहीं दिया है। एक इंच जमीन नहीं देने के इस संकल्प को जनगण को विभाजित कर ही तोड़ा जा सकता है। सांप्रदायिक ताकतें इसमें सक्रिय हैं। 60 के दशक में कॉरपोरेट घरानों ने देखा था कि सांप्रदायिक विभाजन कर किस तरह मजदूरों के आंदोलन को विभाजित करने में उन्हें कामयाबी मिली। लेकिन ताजा प्रयासों की कठिनाई यह है कि सांप्रदायिक मुहावरे लोगों की जुबान पर अभी नहीं चढ़ पा रहे हैं। झारखंड आंदोलन के दौरान वनांचल का नारा दे कर जिस तरह झारखंड आंदोलन की जनवादी चेतना को कुंद करने का प्रयास किया गया था कुछ वैसा ही आंदोलनों की गति पकड़ने के बाद से किया जा रहा है। पंचायतों के संदर्भ में यह महत्वपूर्ण है। क्या वे साझी विरासत की हिफाजत करने की दिशा में पहल लेंगी या धन के बंदरबाट में जनगण की लड़ाइयों के खिलाफ खड़ी होंगी।

पड़ोसी राज्य ओड़िसा का अनुभव बताता है कि आदिवासी चेतना के स्वरूप को बदल कर सांप्रदायिक विभाजन को मजबूत किया जा सकता है। ओड़िसा के कंधमाल की घटना हो या झारखंड के सीमावर्ती इलाकों का सब जगह जमीन पर सांप्रदायिक विभाजन की प्रक्रिया में पंचायतों को कारगर बनाने की कोशिश की गयी है। इसके लिए स्कूलों को खास तौर पर टारगेट किया गया है जहां अतिरिक्त गतिविधियों में खेलकूद और सांस्कृतिक ज्ञान के नाम पर धर्म विशेष के खिलाफ नफरत करने वाले संदेश दिए जा रहे हैं। एकदम से संगठित तौर पर झारखंड में भी इस दिशा में प्रयास किया जा रहा है। दिलचस्प बात यह है कि विभाजक ताकतों ने भी उन्हीं मुहावरों का इस्तेमाल

प्रारंभ कर दिया है जिसका कि प्रगतिशील तबका भी करता है।

सवाल यह है कि क्या जनांदोलन की ताकतें स्वशासन की विरासत को बचाते हुए इन परियोजनाओं को परास्त कर पाएंगी या वे अपने आधारों के बीच सांप्रदायिक एजेंडे को सफल होने देंगी। पिछले दो दशक का इतिहास यदि जनांदोलनों के सफल होने का है तो जनगण के अराजनीतिककरण करने की प्रक्रिया का भी है और इस अराजनीतिककरण का लाभ उठाने में सांप्रदायिक संगठन कई बार सफल भी हुए हैं। झारखंडी जनांदोलन की सीमा यह है कि वे मुद्दों को तो उठाते हैं लेकिन बदले हालात में जनगण के राजनीतिककरण की प्रक्रिया में सफल नहीं हो पाते हैं। यही कारण है कि आज झारखंड के जनांदोलनों को सांस्कृतिक विरासत की चुनौतियों का भी सामना करना पड़ रहा है। उस सांस्कृतिक विरासत का जिसे हूलगुलानों ने राजनीतिक दर्शन के तौर पर पेश करते हुए साम्राज्यवाद विरोधी चेतना के साथ व्यापक जनगण की एकता को बनाए रखा था। तो क्या जब हूलगुलानों की जनस्मृति से जनगण को भ्रमित किया जा सकता है? इस सवाल के जवाब के लिए उन परिघटनाओं को विश्लेषित करने की जरूरत है जो तीन दशकों से क्रियाशील हैं। झारखंड के तमाम क्रांतिकारी समूह भी इस खतरे से वाकिफ हैं या नहीं यह सवाल भी कई बार उठाया जाता है। जिस गति से सांप्रदायिक इतिहास और संस्कृति के प्रयोग बढ़े हैं वे इन चिंताओं को ही लक्षित करते हैं। हूलगुलानों के दर्शन को भी सांप्रदायिक आधार पर परिभाषित करने और बच्चों के मन में उसे उतारने की प्रक्रिया चल रही है।

ऐसे हालात में स्वशासन की ताकत को गहराई से समझने तथा उसके प्रगतिशील स्वरूप से पंचायती संस्थाओं को एकाकार करने की चुनौती भी है। जब तक इस दिशा में मजबूत राजनीतिक कदम नहीं उठाया जाएगा न तो स्वशासन का सपना जमीन पर उतरेगा और न ही हम यह मान ले सकते हैं कि अबुआ राज का झारखंडी जनतंत्र जीवित रहेगा।

श्रम और भारतीय समाज

■ काँचा इलैया

जब मनुष्यों ने व्यवस्थित रूप से जीना शुरू किया, तब पशु-पक्षी भी उनके जीवन का हिस्सा बन गए। जिस तरह मनुष्य जन्म लेते हैं, बड़े होते हैं और मर जाते हैं, ठीक उसी तरह जानवर भी पैदा होते हैं, बड़े होते हैं और मर जाते हैं। जहाँ मनुष्य के मरने के बाद उसकी पतली चमड़ी का कोई उपयोग नहीं होता, वहीं जानवरों की मोटी खाल के कई उपयोग होते हैं। हजारों सालों के दौरान मनुष्यों ने जानवरों की खाल और चमड़ी को कई उपयोगी चर्मोत्पादों में बदलना सीख लिया है। जानवर की पकाई गई खाल को ही चमड़ा कहा जाता है। पशुओं की खाल को साफ करके और पकाकर सुरक्षित करने की प्रक्रिया को “चर्मशोधन” कहते हैं। चर्मशोधन मनुष्यों को ज्ञात सबसे पुरानी कारीगरी है।

आहार के उपार्जन को किफायती बनाने के लिए यह ज़रूरी है कि उसके सभी सम्भव सह-उत्पादों का उपयोग किया जाए। धीरे-धीरे मनुष्यों ने शिकार किए गए जानवरों की खालों को इस्तेमाल करने के तरीके खोज लिए। शोधित खालों का इस्तेमाल

इन्सान के पैरों की रक्षा के लिए, कृषि उपकरणों को चमकाने, गुलेल बनाने और लोगों को सर्दियों में गर्म रखने व गर्मियों में शीतल रखने के लिए किया जाने लगा। अन्य शिल्प, जैसे कुम्हारी, लुहारी, कताई और बुनाई काफी बाद में विकसित हुए।

भारतीय उपमहाद्वीप में स्थापित होने वाला सबसे पहला उद्योग चमड़ा उद्योग ही था। मूल्यहीन प्रतीत होने वाली वस्तु को सबके द्वारा उपयोग की जा सकने वाली वस्तु में रूपांतरित कर देना ही किसी भी उद्योग का काम है।

चर्मकार्य का विज्ञान

चमड़ा कैसे बनता है? सर्वप्रथम, मरे हुए जानवरों- गाय, भैंस, सुअर, बकरी, भेड़, ऊंट- की खालों को उतारा जाता है। इसके बाद, इनकी लाशों को दफन करना ज़रूरी होता है ताकि गाँवों, कस्बों और नगरों को हैज़ा, दस्त जैसी जानलेवा बीमारियों और दूसरी महामारियों

से बचाया जा सके।

खाल को छेदे बगैर उतारने के लिए निपुणता ज़रूरी है। चाकू के सटीक इस्तेमाल के लिए हाथों और आँखों का अच्छा तालमेल ज़रूरी होता है। इस काम को करते-करते चर्मकारों को जानवरों की शरीर-रचना का अच्छा-खासा ज्ञान भी हासिल हो गया। इस तकनीक को तराशा गया और आगे की पीढ़ियाँ इसे सीखती गईं। यह शिक्षा सैद्धांतिक भी थी और व्यावहारिक भी। चर्मकार्य में शामिल समुदायों को देश के विभिन्न हिस्सों में अलग-अलग नामों से जाना जाता है- आन्ध्र प्रदेश में मडिगा, तमिलनाडू में अरुन्धतियर तथा उत्तर प्रदेश, पंजाब और कई मध्य उत्तर-भारतीय राज्यों में चमार या चम्बर।

गीली चमड़ी को सड़ने से बचाने के लिए नमक का इस्तेमाल करने का तरीका कई सदियों पहले मडिगाओं/चमारों द्वारा खोजा गया था। आज भी “क्योरिंग” कही जाने वाली इस प्रक्रिया का गाँवों में स्थित मडिगाओ/चमारों की बस्तियों में उपयोग किया जाता है।

चमड़ियों और खालों को आधुनिक चर्मशोधन उद्योगों में पहुँचाने से पहले नमक द्वारा संसाधित किया गया जाता है। जहाँ आजकल के औद्योगिक चर्म-शोधनालय कई ऐसे रसायनों का इस्तेमाल करते हैं जो भीषण प्रदूषण फैलाते हैं, वहीं चर्मकारों की कार्यशालाओं में होने वाली चर्मशोधन प्रक्रियाएँ काफी हद तक पर्यावरण के अनुकूल होती हैं।

नमक लगी खाल को तंगेडु के पेड़ (कैसिया ऑरीकुलैटा) की छाल से बने चूर्ण के घोल में डुबोया जाता है। भारतीय चर्मकारों ने खोज निकाला कि तंगेडु के पौधे में पाए जाने वाले “टैनिन” या (या टैनिन अम्ल) का प्रयोग कच्ची खालों को चमड़े में बदलने के लिए किया जा सकता है। यह प्रक्रिया लगभग पन्द्रह दिनों तक चलती है। चर्मकार प्रतिदिन इस पानी को चखकर खटास का पता लगाते हैं। हर गुज़रते दिन के साथ यह खाल तंगेडु के पानी का

कुछ रसायन सोखती जाती है, फैलने लगती है और कड़कपन के साथ चमड़े में तब्दील होना शुरू हो जाती है। इसके बाद इस संसाधित खाल को चूने के पानी से भरे टब में रखा जाता है। एक हफ्ते बाद यह खाल चमड़े में तब्दील हो जाती है। फिर इस चमड़े को बहते पानी या तालाब में धोकर साफ किया जाता है। इन चार चरणों से- क्योरिंग, तंगेडु के पानी में संसाधित किया जाना, चूने के पानी में डुबोकर रखना और धोना-त्वचा और खालों को चमड़े में बदलने की प्राकृतिक प्रक्रिया बनती है। अपने उत्पाद को अन्तिम रूप देने के लिए मडिगा चर्मकार करुक्काया नामक फल के सूखे और चूरा किए गए रेशे का प्रयोग करते हैं। इस रेशे को अरण्डी के तेल में उबाला जाता है। ठण्डा होने पर इस घोल को व्यवस्थित रूप से चमड़े पर लगाया जाता है ताकि उसे चमकदार और चिकना बनाया जा सके।

इसके बाद चर्मकार बहुत कुशलता के साथ इस चमड़े को जूते, सैंडल, रस्सी, बैग और बैल्ट, तथा वाद्ययंत्रों जैसे ढफली, तबला या मृदंग, में भी रूपांतरित कर देते हैं। चमड़े के जूते-चप्पलों ने न केवल मनुष्यों के पैरों की रक्षा की बल्कि उन्हें भूमि जोतने में सक्षम भी बनाया। इससे मनुष्यों को प्रकृति के साथ संघर्ष में मदद मिली। जूते, सैंडल पहनकर ही मनुष्यों ने जंगल साफ किए। चमड़े की रस्सियों की सहायता से हमारे किसानों ने बंजर ज़मीन को उपजाऊ बनाया। अतः चमड़ा उद्योग ऐसा मूल उद्योग है जिसने दूसरे कई उद्योगों को पैदा किया।

सामाजिक दर्जा

यदि हम विज्ञान को परखे जा सकने वाले उपायों-अवलोकन, पहचानना, वर्णन, प्रयोगात्मक खोज और प्राकृतिक घटनाओं की सैद्धांतिक व्याख्या-द्वारा हासिल किया गया ज्ञान या सीखा गया कौशल मानते हैं, तब जो मडिगाओं/चमारों ने हासिल किया वह निश्चित ही विज्ञान था। उनकी इस उपलब्धि की व्यापक सामाजिक उपयोगिता थी। दूसरी ओर, धार्मिक ग्रन्थों में पाए जाने वाले मंत्रों, स्तुतियों और पावन भजनों का संबंध अलौकिक घटनाओं से था। इनका विज्ञान से कोई लेना-देना नहीं होता था। वस्तुतः इनसे किसी प्रकार का कोई उत्पादन नहीं होता था। फिर भी, इन धार्मिक ग्रन्थों के पास यह निर्णय करने की शक्ति थी कि चर्मकार अछूत थे। दूसरे समाज में चर्मकारों ने अपने संघ बनाये और उन्नति की। उन्हें कभी अछूत नहीं माना गया।

संसार भर में चर्मशोधन और चमड़ा उद्योग से जुड़े लोगों का विज्ञान के जनकों के तौर पर आदर किया जाता था। फ्लेमिश समुदाय के पुनर्जागरण कालीन चित्रकार पीटर पॉल रुबेन्स (1577-1640) जूतों के निपुण कारीगर थे और विभिन्न दरबारों में उनका बहुत आदर के साथ स्वागत किया जाता था। आज, मैनेलो ब्लैहिनक, जिमी चू और क्रिश्चियन लुबूटिन मशहूर मोची हैं जो 750 डॉलर प्रति जोड़ी से भी ज़्यादा कीमत वाले अपने डिज़ाइनर जूतों के लिए जाने जाते हैं।

भारत में लोगों को जन्म और कर्म के आधार पर बाँटने वाली जाति व्यवस्था की वजह से इस काम में शामिल लोगों को “अछूत” कहा गया और उन्हें मुख्य गांव से दूर रहने के लिए मजबूर किया गया। इसी तरह यह भी एक विडंबना है कि वातावरण को स्वच्छ रखने का काम करने बुनियादी उत्पादक कामों का तिरस्कार करना और उन्हें तुच्छ समझना, किसी सचमुच के प्रजातांत्रिक समाज में नहीं दिखाई देगा। भारत में ऐसा इसलिए होता है क्योंकि हमारे बच्चों को कभी भी श्रम को सम्मान के साथ देखना नहीं सिखाया गया। श्रम की गरिमा के मुद्दे से सरोकार रखने वाली किताबें न तो पाठ्यक्रमों में शामिल हैं न ही उनके बाहर उपलब्ध हैं।

हमारे समाज में श्रम के प्रति सम्मान की भावना का अभाव है क्योंकि जाति व्यवस्था के ढाँचे में श्रमाधारित किसी भी गतिविधि को हेय मान लिया जाता है। यह भारतीय शिक्षा व्यवस्था में भी झलकता है। जैसा कि डॉ. बी. आर. अम्बेडकर ने कहा था, जाति व्यवस्था श्रम का बंटवारा ही नहीं है, बल्कि श्रमिकों का भी बंटवारा है। जातियों के ऊँच-नीच के क्रम में शारीरिक और मानसिक श्रम के बीच एक स्पष्ट विभाजन रेखा दिखाई देती है। दुर्भाग्यवश, यह सोच आधुनिक स्कूली शिक्षा के पाठ्यक्रम को भी निर्धारित करती चली आ रही है।

जैसे-जैसे भारतीय बच्चे उच्चतर शिक्षा की ओर बढ़ते हैं वैसे-वैसे उनमें बुनियादी श्रमाधारित उत्पादन प्रक्रियाओं के प्रति अरुचि भी बढ़ती जाती है। स्कूल जाने वाले हर बच्चे का रोज़मर्रा के घरेलू कामों (घर का झाड़ू-पोंछा, बरतन साफ करना, कचरा ठिकाने लगाना और कपड़े धोना) के प्रति नकारात्मक रवैया होता है। ऐसा माना जाता है कि यह सब माँ का काम है; या, यदि परिवार समर्थ है तो घरेलू नौकर का, जो अधिकांशतः निचली जाति की स्त्री होती है। हमारे समाज में घरेलू काम करने वाली किसी स्त्री का दर्जा भी वही होता है जो “नीची जाति” के मज़दूर (कुम्हार, नाई, चर्मकार या किसान) का होता है। ऐसा काम न तो गरिमा देता है न ही उचित वेतन। इस प्रकार, श्रम के प्रति अनादर की भावना जाति आधारित भी है और लिंग आधारित भी। ऐसे विचार घर और स्कूलों में हमारे मानस में बिठाए जाने के साथ-साथ शताब्दियों से उत्तराधिकार में मिले सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यों के माध्यम से भी मजबूत होते हैं।

यदि हमें इस स्थिति को सुधारना है तो श्रम के प्रति आदर की भावना जगाने के लिए स्कूली पाठ्यक्रम में और घर पर ध्यान देना होगा। पहला कदम है ऐसी पाठ्य सामग्री विकसित करना जिसे किशोर छात्र (सातवीं से दसवीं कक्षा), शिक्षक और माता-पिता प्रयोग कर सकें। यह किताब ऐसा ही एक प्रयास है। इस किताब में भारत के उत्पादक समुदायों द्वारा विकसित बुनियादी विज्ञान के ऐतिहासिक विकास और श्रम की गरिमा के संबंध में चर्चा की गई है। इन समुदायों को जातियों का रूप दे दिया गया था और उनके श्रम को हेय और अशोभनीय माना जाने लगा था।

सफ़र इलाज का

जहाँ एक ओर आधुनिक चिकित्सा प्रणाली में प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं को अपने ज्ञान की उपयोगिता के बारे में कोई शक नहीं है वहीं दूसरी ओर बाकी समाज भी इसकी उपयोगिता का लोहा मान चुका है। इसका एक कारण तो यह भी है कि लोग आधुनिक प्रणाली के जादुई असर को देख चुके हैं। एक और कारण यह भी है कि आधुनिक प्रणाली बीमारी की वैज्ञानिक व तार्किक समझ पर आधारित है।

हम यह विश्वास करने लगे हैं कि आधुनिक चिकित्सा प्रणाली के विकास की प्रक्रिया में कोई पूर्वाग्रह या पक्षपात नहीं रहा है। परंतु इस प्रणाली के विकास का अध्ययन करने से पता चलता है कि इसको बढ़ावा देने में समाज के शक्तिशाली आर्थिक व राजनैतिक गुटों का हाथ रहा है। यह सही है कि आधुनिक चिकित्सा प्रणाली वैज्ञानिक व तार्किक सिद्धांतों पर आधारित है। परंतु यह भी उतना ही सही है कि इसके विकास का मार्ग समाज के शक्तिशाली वर्गों ने निर्धारित किया और इसे अपने हितों के रूप में ढाला। इसी वजह से आधुनिक प्रणाली में बीमारी के कुछ ही पहलुओं पर ध्यान दिया गया जबकि अन्य पहलू कमोबेश उपेक्षित रहे।

आधुनिक चिकित्साशास्त्र पर आधारित स्वास्थ्य प्रणाली के सारे पहलुओं में डॉक्टर की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण होती है। अब्बल तो डॉक्टर ही बीमारी की परिभाषा तय करते हैं, फिर वे ही यह भी तय करते हैं कि उस बीमारी के लिए कौन-सा नुस्खा दिया जाए। इस प्रकार से स्वास्थ्य से संबंधित हर बात पर डॉक्टरों का नियंत्रण होता है और उनकी सत्ता को चुनौती देना आसान नहीं होता।

सवाल यह है कि डॉक्टरों के हाथ में इतनी ताकत आई कैसे? इसका कारण यह है कि आज चिकित्सा संबंधी ज्ञान और हुनर थोड़े से लोगों के हाथों में केंद्रित है। चिकित्साशास्त्र बहुत आगे बढ़ चुका है। इस स्थिति में यह उचित ही लगता है कि कुछ ही लोग इस विशिष्ट ज्ञान को हासिल करें। परंतु इस ज्ञान को कुछ ही लोगों तक सीमित करने का कारण सिर्फ इतना ही नहीं है। इस प्रवृत्ति की जड़ें आपको पश्चिमी देशों में सौ साल से स्थापित परंपरा में मिलेंगी।

उस समय आधुनिक चिकित्साशास्त्र न तो इतना आगे बढ़ा हुआ था और न इतना जटिल था। उस समय आजकल जैसी 'जादुई' औषधियाँ भी नहीं थीं। वास्तव में इस ज्ञान और

उसके कारोबार पर नियंत्रण की जड़ में डॉक्टरों के आर्थिक स्वार्थ थे। डॉक्टर चाहते थे कि अन्य प्रकार के चिकित्सक मैदान छोड़ दें। इसके लिए डॉक्टरों ने समाज के अन्य शक्तिशाली तबकों से हाथ मिलाया। इस तरह से चिकित्सा का ज्ञान और उसका कारोबार कुछेक लोगों के हाथों में सिमट गया। समय बीतने के साथ-साथ यह बात सर्वमान्य सत्य बन गई कि कुछ ही लोग इस विशिष्ट ज्ञान को हासिल कर सकते हैं।

आधुनिक चिकित्साशास्त्र के विकास से पहले यूरोप में तीन किस्म के चिकित्सक होते थे: गिरजाघर (चर्च), आम चिकित्सक और विश्वविद्यालय में प्रशिक्षित फिजिशियन।

चर्च एक ताकतवर संस्था थी जो जिन्दगी के हर पहलू को प्रभावित करती थी। चर्च का कहना था कि बीमारी एवं अन्य मानवीय कष्ट व्यक्ति के पापों की सजा है।

इस व्याख्या के मुताबिक बीमारी हो जाने पर प्रार्थना और पश्चाताप का नुस्खा दिया जाता था और कहा जाता था कि इन्सान को ईश्वर की इच्छा को विनम्र भाव से स्वीकार करना चाहिए।

आम चिकित्सक प्रायः बुजुर्ग महिलाएं या यदा-कदा पुरुष होते थे, जिन्हें जड़ी-बूटियों का ज्ञान होता था। उनका ज्ञान बरसों में संचित किया हुआ होता था। यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी चला आ रहा था। इन महिलाओं को आगे चलकर 'डायन' कहा गया। इनका कामकाज अधिकतर खेतिहर समाज में चलता था।

तीसरी किस्म के चिकित्सक थे विश्वविद्यालय में प्रशिक्षित पुरुष फिजिशियन। इनका विश्वास अरबी प्रणाली पर था। इनका अधिकतर कारोबार उच्च वर्ग के लोगों और राजा-महाराजाओं के दरबार में चलता था।

इन तीनों किस्मों में से शायद बुजुर्ग महिलायें ही सबसे ज़्यादा कारगर होती थीं।

“इन बुजुर्ग महिलाओं, या डायनों के पास नाना प्रकार के नुस्खे होते थे। ये नुस्खे समय की कसौटी पर परखे गए थे। डायनों द्वारा विकसित कई जड़ी-बूटियाँ आज आधुनिक चिकित्सा का अंग हैं। उनके पास दर्द-निवारक, पाचक व जलन मिटाने की दवाईयाँ होती थीं। चर्च जहां प्रसव पीड़ा को हब्बा (स्त्री) के मूल पाप की उचित सजा मानता था, वहीं डायनों इस दर्द को कम करने के लिए एर्गाट का उपयोग करती थीं। एर्गाट से बनी

दवाएं आज भी प्रसव को जल्दी करवाने और जचकी के प्रभावों को समाप्त करने में काम आती हैं। इसी प्रकार से बेलाडोना आज मांसपेशियों के संकुचन को रोकने के लिए प्रयोग की जाती है। गर्भपात की आशंका होने पर डायन चिकित्सक बेलाडोना का उपयोग बच्चेदानी का संकुचन रोकने के लिए करती थीं। डिजिटेलिन दिल की बीमारियों में आज भी प्रयुक्त होती है। कहा जाता है कि इसकी खोज एक अंग्रेज डायन ने की थी। बेशक, डायनों की कुछ दवाइयां मात्र चमत्कार होती थीं और उनका प्रभाव सिर्फ डायन की साख के कारण होता था।

“दरअसल डायनों ने ही हड्डियों और मांसपेशियों तथा जड़ी-बूटियों और दवाइयों की व्यापक समझ उस समय विकसित की जब फिजिशियन ज्योतिष के चक्कर में पड़े थे और कीमियागर सीसे से सोना बनाने में लगे थे। डायनों द्वारा अर्जित ज्ञान इतना व्यापक था कि 1527 में ‘आधुनिक चिकित्सा के जनक’ कहे जाने वाले पैरासेल्सस ने औषधि संबंधी अपनी सारी किताबें आग के हवाले करते हुए कहा था ‘मैं जो कुछ भी जानता हूँ, वह सब डायनों से सीखा है’।”

दूसरी तरफ, फिजिशियन यदा-कदा ही कामयाब होते थे।

“विश्वविद्यालय में प्रशिक्षित फिजिशियनों के पास अंधविश्वासों के अलावा कुछ नहीं था। खून बहाना एक आम तरीका था, खासकर घावों के मामले में। समय, प्रहर, हवा आदि का विचार करके जोंक से खून चुसवाया जाता था। चिकित्सा के सिद्धांतों के आधार अवलोकन की बजाय ‘तर्क’ होता था : मसलन, सरसों व लहसुन से लाल पित्त पैदा होता है। दालें, पत्ता गोभी, बूट्टे बकरो और गायों के गोशत से पित्त काला हो जाता है। मंत्रोच्चार और अन्य धार्मिक कर्मकाण्डों को कारगर माना जाता था। एडवर्ड द्वितीय का फिजिशियन धर्मशास्त्र का स्नातक था और चिकित्साशास्त्र में डॉक्टर। दांत के दर्द के लिए वह मरीज के जबड़े पर लिखवाता था: ‘इन द नेम आफ फादर, सन एण्ड दी होली घोस्ट, आमीन’ (पिता, पुत्र और पवित्र प्रेतात्मा के नाम, आमीन)। या एक सुई को किसी झल्ली से छुआकर, फिर दांतों से छुआता था। कोढ़ की प्रचलित औषधि थी-सूखे इलाके में पत्थरों के बीच से पकड़े गए काले सांप के मांस का शोरबा।”

बीमार व्यक्तियों के लिए चर्च के पास भी कुछ नहीं था।

“रविवार को प्रार्थना के बाद सैंकड़ों लोग सहायता की पुकार करते थे-और उन्हें शब्दों के अलावा कुछ न मिलता : तुमने पाप किया, ईश्वर तुम्हें सजा दे रहा है। उसे धन्यवाद दो आज जितना कष्ट भोगोगे, आने वाले जीवन में दुख उतने ही कम होंगे। कष्टों को सहन करो और मर जाओ। चर्च मृतक के लिए प्रार्थना करेगा।”

इसके बावजूद चर्च इतनी शक्तिशाली संस्था थी कि उसका

नियंत्रण आम चिकित्सकों और फिजिशियनों दोनों पर चलता था। दरअसल सिर्फ चर्च के नियंत्रण के कारण ही कई सदियों (5वीं सदी से 13वीं सदी) तक किसी भी तरह के व्यवस्थित चिकित्साशास्त्र का विकास नहीं हो पाया। आखिर यह धार्मिक विचारों के विरुद्ध जो होता। जब शिक्षण संस्थायें बनीं और चिकित्सा का कारोबार फिर से एक व्यवसाय के रूप में उभरने लगा तब भी चर्च ने फिजिशियनों पर कई पाबंदियां लगाईं।

“विश्वविद्यालय में प्रशिक्षित फिजिशियन, पादरी की उपस्थिति, मदद और सलाह के बगैर चिकित्सा का काम नहीं कर सकते थे। यदि मरीज अपने पापों को स्वीकार (कन्फेशन) न करे, तो उसका इलाज नहीं किया जा सकता था।”

आम चिकित्सकों के बारे में चर्च का मानना था कि उनको इलाज की ताकत शैतान से मिली है। फिजिशियनों के लिए तो आम चिकित्सक व्यवसायिक प्रतिद्वंद्वी थे ही। अतः चर्च और फिजिशियन दोनों का ही स्वार्थ इन महिला चिकित्सकों को बदनाम करने में था।

पहला कदम यह उठाया गया कि चिकित्सा का कामकाज करने के लिए विश्वविद्यालय की उपाधि अनिवार्य कर दी गई। इससे औरतों के लिए चिकित्सा का पेशा करना असंभव हो गया क्योंकि उस ज़माने में औरतों को विश्वविद्यालय में दाखिले की अनुमति नहीं थी। परंतु इससे खेतियर समुदाय में देसी चिकित्सक पूरी तरह समाप्त नहीं हुए। अतः उन्हें डायन करार देकर उनको प्रताड़ित करना शुरू हुआ। डायनों का शिकार (विच हंट) इसी का परिणाम था जो 14वीं शताब्दी तक चला और लाखों औरतों को यातनाएं दे-देकर मार डाला गया। डायनों के शिकार की इस कार्यवाही में चर्च और चिकित्सा जगत दोनों ने सक्रिय भूमिका निभाई। डॉक्टर लोग डायन को ढूँढ निकालते थे और चर्च उनको फैंसला सुनाता था। फैंसले में कहा जाता था कि जो भी व्यक्ति बगैर औपचारिक प्रशिक्षण के चिकित्सक का काम करने की जुरत करेगा, वह शैतान का साथी है।

डायनों के खिलाफ यह अभियान उस समय हुए जब शोषण आधारित आर्थिक व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह हो रहे थे। चर्च उस समय का सबसे बड़ा ज़मींदार था। चर्च की सत्ता डगमगाने लगी थी। गरीबी बहुत ज़्यादा थी और डायनों के मामले से बुनियादी आर्थिक मुद्दों पर से ध्यान हटाने में मदद मिली।

डायनों के शिकार बहुत बड़े पैमाने पर आयोजित किए गए। इसके बावजूद भी महिला चिकित्सकों का पूरी तरह सफाया न हो सका। परन्तु इसका एक परिणाम यह जरूर हुआ कि औरतें आतंकित होकर चिकित्सा का पेशा करने से डरने लगीं। इसके अलावा उन पर अंधविश्वास, दुर्भावना और शैतानी

की मुहर लग गई। अब चर्च की मदद से फिजिशियनों ने चिकित्सा के कारोबार पर पूरा कब्जा जमा लिया। यहां मुख्य बात यह है कि फिजिशियनों ने अपने बेहतर कौशल का प्रदर्शन करके बाजी नहीं मारी थी। उन्होंने बलपूर्वक अपने प्रतिद्वंद्वियों-देसी चिकित्सकों का सफाया कर दिया था। ये प्रतिद्वंद्वी शायद डॉक्टरों से ज्यादा सक्षम थे।

अमरीका में भी चिकित्सा के कारोबार पर उच्चवर्गीय पुरुषों का नियंत्रण था, हालांकि इसके लिए डायनों के शिकार का सहारा नहीं लिया गया था। सन् 1800 में यहां कोई भी व्यक्ति चिकित्सा का पेशा अपना सकता था, बशर्ते कि वह इलाज करना जानता हो। इसमें औपचारिक प्रशिक्षण की कोई शर्त नहीं थी और न ही नस्ल या लिंग की कोई बाधा थी। लोग व्यवसाय के विचार के खिलाफ थे और उच्च शिक्षा की कुठेक ही संस्थाएं थीं। बहुत थोड़े से मेडिकल स्कूल थे और प्रशिक्षण की अवधि चंद महीनों से लेकर दो साल तक की होती थी। इन महाविद्यालयों में मरीजों की जांच की व्यावहारिक शिक्षा की सुविधाएं नहीं होती थीं। दाखिले के लिए हाई स्कूल पास होना भी जरूरी नहीं था। यहां से प्रशिक्षण प्राप्त चिकित्सक 'हेरोइक' नामक इलाज पद्धति का प्रयोग करते थे। इसमें खून बहाना, उल्टी कराना, दस्त कराना आदि क्रियाएं शामिल थीं। ये उपाय अक्सर खतरनाक साबित होते थे। देसी चिकित्सकों की जड़ी-बूटियां इनसे कहीं बेहतर साबित होती थीं।

19वीं सदी के शुरुआती सालों में औपचारिक रूप से प्रशिक्षित डॉक्टरों ने अपने आपको देसी चिकित्सकों से अलग दिखाने की कोशिशें कीं। अब वे स्वयं को 'नियमित' डॉक्टर कहने लगे। 'नियमित' डॉक्टर मध्यमवर्गीय थे और उनके मरीज भी अधिकतर उच्च या मध्यवर्गीय ही होते थे।

चिकित्सा के कारोबार को सम्मानजनक बनाने के ख्याल से 'नियमित' डॉक्टरों ने ऐसे कानून बनवाए जिनसे चिकित्सा कारोबार सिर्फ औपचारिक रूप से प्रशिक्षित व्यक्ति ही कर सकें। आम लोगों ने इन कानूनों का व्यापक विरोध किया। अबल तो लोग व्यावसायीकरण के ही खिलाफ थे। दूसरी बात थी कि 'नियमित' डॉक्टरों द्वारा प्रयुक्त विधियां अक्सर खतरनाक और जानलेवा होती थीं। तीसरी बात थी कि लोगों का विश्वास देसी चिकित्सकों पर ज्यादा था। इस विरोध ने धीरे-धीरे एक लोकप्रिय स्वास्थ्य आंदोलन का रूप ले लिया। यह महिला आंदोलन और श्रमिक आंदोलन का महत्वपूर्ण हिस्सा बन गया।

चिकित्सा कारोबार को औपचारिक रूप से प्रशिक्षित व्यक्तियों तक सीमित करने के इस प्रयास के जवाब में अन्य किस्म के चिकित्सकों ने खुद के चिकित्सा महाविद्यालय शुरू किये। इनमें उनकी पद्धति के अनुरूप शिक्षा दी जाती थी। इन महाविद्यालयों

में औरतों और हर नस्ल के लोगों को प्रवेश दिया जाता था। परिणाम यह हुआ कि औपचारिक रूप से प्रशिक्षित चिकित्सकों का एक बड़ा समुदाय बन गया। 'नियमित' डॉक्टर इसका एक अंश मात्र रह गए।

सन् 1840 में सरकार को लायसेंस का कानून वापस लेना पड़ा। इसके बावजूद 'नियमित' डॉक्टर बाकी सारे चिकित्सकों को अनियमित मानते रहे। परंतु इसके बावजूद कठोर प्रतिस्पर्धा से वे बच नहीं सके। 'नियमित' डॉक्टर चिकित्सा को जीविका का साधन भी बनाना चाहते थे। इसके विपरीत अन्य चिकित्सक यह काम पार्ट टाइम ही करते थे।

अपने-आपको बाकी चिकित्सकों से अलग दिखाने के एक और प्रयास में 'नियमित' डॉक्टरों ने अपना एक संगठन बनाया जिसे अमेरिकन मेडिकल एसोसिएशन का नाम दिया गया। परंतु मात्र इस संगठन के बन जाने से उनकी साख बढ़ना संभव नहीं था। आखिर नियमित डॉक्टरों की इलाज पद्धति के मुकाबले ज्यादा कारगर तो थी नहीं।

बहरहाल 19वीं सदी का अन्त आते-आते हालात बदल गए। इसी समय यह सिद्धांत प्रतिपादित हुआ कि बीमारी का कारण कीटाणु होते हैं। इसे बीमारी का कीटाणु सिद्धांत कहा गया। कुठेक नियमित डॉक्टर इस नए विज्ञान के अध्ययन हेतु यूरोप गए। वापस आने पर इन विदेशी-प्रशिक्षित डॉक्टरों को कुछ अमीर उद्योगपतियों ने मदद दी। इसके फलस्वरूप जॉन्स हापकिन्स मेडिकल स्कूल की स्थापना हुई। यह स्कूल उस समय के बाकी सारे संस्थानों से इस मायने में अलग किस्म का था कि इसमें प्रायोगिक विज्ञान और वास्तविक मरीजों के अध्ययन को भी शामिल किया गया था।

इसके अलावा इस स्कूल में दाखिले के लिए कॉलेज की उपाधि अनिवार्य थी। चिकित्सा शिक्षा की अवधि भी बढ़ाकर चार साल कर दी गई। इन परिवर्तनों की बदौलत चिकित्सा-शिक्षा वैज्ञानिक नज़र आने लगी। हालांकि इलाज की पद्धति वही पुरानी थी। उद्योगपति भी चिकित्सा की इस नई अवधारणा को बढ़ावा देना चाहते थे। उनके अपने कारण थे। अतः रॉकफेलर और कार्नेगी जैसे उद्योगपतियों ने चिकित्सा शिक्षा और अनुसंधान में पैसा झोंकना शुरू किया। वे खासतौर से उन चिकित्सा विद्यालयों को पैसा देते थे, जो प्रयोगशाला आधारित नई चिकित्सा पद्धति को अपनाने को तैयार हों।

कार्नेगी प्रतिष्ठान के एक प्रतिनिधि फ्लेक्सनर की रिपोर्ट के परिणामस्वरूप कई चिकित्सा विद्यालय बन्द कर दिये गए। इनमें से अधिकांश विद्यालय औरतों व श्रमिकों को प्रशिक्षण देते थे। इन विद्यालयों के बंद हो जाने के बाद ये लोग नए विद्यालयों में प्रवेश नहीं ले सके क्योंकि प्रशिक्षण की अवधि और

खर्चा बहुत ज़्यादा था।

अन्ततः नियमित डॉक्टर चिकित्सा शिक्षा और कारोबार पर आधिपत्य जमाने में सफल रहे। उद्योगपतियों से मिली वित्तीय सहायता की बदौलत एक बार फिर उन्होंने सरकार पर दबाव डाल कर चिकित्सा कारोबार को नए विद्यालयों में प्रशिक्षित लोगों तक सीमित करने संबंधी कानून पारित करवाया।

अमरीका में भी नियमित डॉक्टरों का एकाधिकार किसी बेहतर कौशल की वजह से नहीं बना। यूरोप की तरह, यहां भी हर तरह के प्रतिद्वंद्वियों का सफाया करके ही यह विजय प्राप्त की गई। इस प्रकार से चिकित्सा के कारोबार पर शिक्षित उच्च व मध्यमवर्गीय पुरुषों का कब्जा हो गया।

डाक्टरों के एकाधिकार का चिकित्सा के तौर-तरीकों पर असर

एक बार वर्चस्व हो जाने पर डॉक्टर अपनी शर्तें लागू करने लगे।

एक, चिकित्सा के कारोबार को पूर्णकालिक व्यवसाय का दर्जा मिल गया और कई लोगों की जीविका पूरी तरह इसी पर निर्भर हो गई अर्थात् कानूनन अब डॉक्टर अपनी सेवाओं के बदले मनचाही फीस वसूल सकते थे। अर्थात् चिकित्सा सेवा एक ऐसी वस्तु बन गई, जिसकी खरीद-फरोख्त हो सकती थी। बाज़ार में उपलब्ध अन्य वस्तुओं की तरह ही चिकित्सा सेवा भी वही व्यक्ति खरीद सकते थे जो इसका मूल्य चुका सकें।

दो, अब मेडिकल कॉलेजों में प्रवेश को डॉक्टरों द्वारा नियंत्रित किया जा सकता था। मेडिकल कॉलेज में प्रवेश के लिए न्यूनतम शैक्षणिक योग्यता निर्धारित कर दी गई। इसके कारण अब मात्र सम्पन्न तबके के लोग ही इन कॉलेजों में प्रवेश ले पाते थे। अतः पूरा कारोबार सम्पन्न तबके के हाथों में ही सिमटा रहा। इसके अलावा, कुछ वैज्ञानिक से दिखने वाले सिद्धांत भी पेश किये गए जिनके मुताबिक औरतें उच्च शिक्षा पाने की दृष्टि से शारीरिक रूप से अयोग्य होती हैं। इस प्रकार से औरतों को मेडिकल कॉलेज में पहुंचने से रोका गया। कोई भी इन सिद्धांतों को चुनौती नहीं दे सकता था क्योंकि डॉक्टर मानव शरीर संबंधी बातों के विशेषज्ञ बन बैठे थे।

तीन, अब डॉक्टर मरीज से आँख मूंदकर निर्देशों का पालन करने की मांग करने लगे। मरीज न तो प्रश्न पूछ सकते थे और न ही इलाज के बारे में कुछ कह सकते थे। नई-नई निदान तकनीकों के आ जाने से मरीज के अपने अहसास का कोई महत्व नहीं रह गया। इसके कारण बीमार व्यक्ति में लाचारी का भाव और बढ़ गया। मरीजों से कहा जाने लगा कि वे चुपचाप डॉक्टर के आदेशों का पालन करें। मरीजों पर इस तरह का पूरा

नियंत्रण आवश्यक था। अन्यथा डॉक्टरों की क्षमता पर सवाल उठने का खतरा बना रहता। यदि गलत निदान या इलाज के कारण किसी मरीज को कष्ट होता, तो इस बात को व्यावसायिक गोपनीयता के तहत छुपाकर रखा जाता। यह धीरे-धीरे चिकित्सा की आचरण संहिता का हिस्सा बन गया- किसी भी डॉक्टर की वफादारी पहले अपने व्यवसाय के प्रति होगी, उसके बाद मरीज के प्रति।

चार, इस प्रकार से बाकी सारी इलाज प्रणालियों की साख गिराकर उनका सफाया करने के बाद, डॉक्टरों ने आगे भी वैकल्पिक प्रणालियों के विकास को रोकने के प्रयास किये। इसी वजह से आज आधुनिक चिकित्सा प्रणाली ही एकमात्र प्रणाली के रूप में प्रचलित है। इसी वजह से इस प्रणाली की खामियां भी आमतौर पर पता नहीं चलतीं।

एक बार चिकित्सा के कारोबार पर एकाधिकार स्थापित करने के बाद डाक्टरों ने अपने आर्थिक हितों के मुताबिक तौर-तरीके बनाए।

यह ढर्रा इस शताब्दी की शुरुआत में बना था और भारत में इसे ज्यों का त्यों अपना लिया गया। यह तब की बात है जब आधुनिक प्रणाली भारत में सरकारी मान्यता प्राप्त प्रणाली बनी, तो भारत में आधुनिक प्रणाली का वर्चस्व कानून के जरिए स्थापित हुआ। नतीजा यह हुआ कि हमारे देश में:

- प्राइवेट प्रैक्टिस कानूनन वैध है।
- प्राइवेट डॉक्टरों द्वारा वसूल की गई फीस पर कोई पाबंदी नहीं है।
- ज़्यादा डॉक्टर प्राइवेट प्रैक्टिस में जाते हैं।
- सरकार डॉक्टरों को वहां काम पर नहीं लगा पाती जहां उनकी सबसे ज़्यादा जरूरत है।
- कई समितियां बता चुकी हैं कि इस तरह की चिकित्सा शिक्षा हमारे देश की जरूरतों के अनुरूप नहीं है।
- इसके बावजूद भी चिकित्सा शिक्षा में उच्च वर्ग के मुट्ठी भर लोगों की जरूरतों को ही मद्देनज़र रखा जाता है।
- डॉक्टर पूर्ण आदेश पालन की अपेक्षा करते हैं और इलाज दिए चले जाते हैं, चाहे वह मरीज के बूते से बाहर ही क्यों न हो।
- डॉक्टर गैर-एलोपैथी प्रणालियों को हिकारत की नज़र से देखते हैं।
- डॉक्टर सारे रोगों से निपटने का एकमात्र तरीका आधुनिक प्रणाली को ही मानते हैं। हालांकि यह सिद्ध हो चुका है कि हमारे देश में बीमारियों के मूल कारण से निपटने में यह प्रणाली सक्षम नहीं है।

...क्रमशः जारी

साभार : स्वास्थ्य और समाज एक भिन्न स्वर

फाँसी के तख्ते से जूलियस फूचिक

चेकोस्लोवाकिया का क्रांतिकारी

जूलियस फूचिक ने यह पुस्तक नात्सी जल्लाद के फन्दे की छाया में लिखी थी। इसकी पांडुलिपि के रूप से ही इसके लेखक के अदम्य साहस और अनोखी सूझबूझ का प्रमाण मिल जाता है। इसकी पांडुलिपि हैं कागज की स्लिपें जिन पर पैसिल से लिखा हुआ है। बाद में यही स्लिपें एक हमदर्द चेक सन्तरी की मदद से पांक्राट्स, प्राग, के गेस्टापो जेल से एक-एक करके चोरी-चोरी बाहर लायी गयीं। फूचिक, जिसे अपने आप से छल करना क़तई मंजूर नहीं था, जानता था कि वह इस खतरों भरी किताब को समाप्त नहीं कर सकेगा। लेकिन तब भी उसका यह विश्वास अपनी जगह पर बिल्कुल ठूढ़ था कि उसके अपने देश के लाखों-करोड़ों लोग और दूसरे देशों के फासिस्त-विरोधी जन जल्द ही उसकी इस पुस्तक का उसके ही शब्दों में 'सुखद अंत' लिखेंगे।

...पिछले अंक से जारी

मार्शल लॉ 1942

मई 27, 1943 : ठीक एक साल पहले की बात है।

यातनाएँ देकर वे लोग मुझे 'सिनेमा' की ओर ले जा रहे थे। वह हम लोगों का रोज़ का रास्ता था: नंबर 400 से नीचे खाने के लिए (खाना पांक्राट्स से आता था), फिर वापस चौथी मन्जिल पर। लेकिन उस दिन दोपहर में वे हमको फिर ऊपर नहीं ले गये।

बैठो और खाओ। बेंचें कैदियों से, जो अपने चमचे और मुँह चलाने में व्यस्त हैं, भरी हैं। यहाँ यह तो बिल्कुल आदमियों जैसा रंग-ढंग मालूम होता है। अगर हम सब जो कल मर जायेंगे, यकायक कंकालों में बदल जायें तो वह आवाज जो हमारे मिट्टी के बर्तनों पर चमचों के चलने से हो रही है, हड्डियों की कड़कड़ाहट और जबड़ों की चटचट में बदल जायेगी। बस इतना है कि किसी को इस बात का खयाल नहीं आया और न किसी को शक ही हुआ कि ऐसा भी हो सकता है। हम में से हर आदमी हफ़्ता भर या महीना भर या सालों ज़िन्दा रहने के लिए पेट भर रहा था।

वहाँ के वातावरण को देखकर अनायास कहने का जी होता था: मौसम मुबारक हो। तब अचानक एक अजीब हवा का झोंका हमें लगा और बड़ी मनहूस खामोशी छा गयी। सिर्फ सन्तरियों के चेहरों से इस बात का कुछ अन्दाज़ा लगता था कि असाधारण कुछ हो रहा है। इसका सबूत यह था कि उन्होंने हमें बाहर निकाला, लाइन में खड़ा किया और पांक्राट्स की ओर ले चले। दोपहर को ही पांक्राट्स



वापस : ऐसा तो पहले कभी नहीं हुआ। आधा दिन बिना यातनाओं के। हम लोग अपने आप से वे सवाल कर-करके थक जाते हैं और हमें कोई जवाब नहीं मिलता। लगता है जैसे भगवान की खास कृपा हो। लेकिन बात ऐसी नहीं है।

वहीं सायबान में हमें जेनरल एलियाश मिले जो प्रोटेक्टरेट के जमाने में प्रधानमंत्री थे और बाद को मार डाले गये। उनकी आँखें उद्विग्न हैं, संतरियों के झाड़-झंखाड़ के बीच से उन्होंने मुझे देखा, पास आये और धीरे से कहा :

'मार्शल लॉ लगा है।'

मेरे मूक प्रश्न का उत्तर देने का मौका उनके पास न था। बहुत जरूरी बातचीत के लिए भी कैदियों के पास सेकंडों के भी टुकड़े ही होते हैं।

पांक्राट्स के संतरी हमारे पेचेक से जल्दी लौट आने पर बड़े अचंभे में थे। जो मुझे मेरी कोठरी तक ले गया उसे देखकर मेरे मन में इतना काफी विश्वास जगा कि जो कुछ मैंने सुना था मैंने उसे बता दिया। मुझे पता नहीं वह कौन है, लेकिन उसने सिर भर हिला दिया। उसे मार्शल लॉ के बारे में कुछ नहीं मालूम था- या शायद उसने मेरा सवाल नहीं सुना। तो भी, शायद-और उससे मेरी परेशानी दूर हुई, वह परेशानी जो उससे सवाल पूछने के कारण मैं महसूस कर रहा था।

बहरहाल शाम को वह आया और उसने मेरी कोठरी के अन्दर झाँका: 'तुमने ठीक कहा था। हेड्रिक की हत्या करने की कोशिश की

गयी। वह बुरी तरह घायल हुआ है। प्राग में मार्शल लॉ है।’

दूसरे दिन उस समूचे गलियारे में उन्होंने हमें एक कतार में खड़ा किया और यातनाएँ देने के लिए चले। हमारे साथ हमारी पार्टी की केन्द्रीय समिति का आखिरी जीवित सदस्य कामरेड विक्टर साइनेक है। उसे फरवरी 1941 में पकड़ा गया था। एस.एस. की वर्दी पहने एक दुबला-पतला लम्बा-सा आदमी, जो जेलखाने की चाभियाँ रखता है, उसकी आँखों के आगे सफेद कागज़ का एक टुकड़ा नचाता है जिस पर मोटे-मोटे अक्षरों में छपा हुआ है-

‘रिहाई का हुक्मनामा।’

वह बहुत भोंडे ढंग से हँस रहा है:

‘तो देखा तुमने, यहूदी के बच्चे, आखिर तुम बच ही गये। तुम्हारी रिहाई का हुक्मनामा! है क्यों नहीं.....’ कहकर उसने अपनी उँगली गले पर फेरी और इस तरह बतलाना चाहा कि विक्टर का सिर उतार लिया जायेगा। सन् 1941 के मार्शल लॉ में फॉसी पाने वालों में ऑटो साइनेक पहला था। उसका भाई विक्टर सन् 1942 के मार्शल लॉ का पहला शिकार है। फॉसी के लिए उसे वे माउटहाउज़ेन ले गये थे।

अब पांक्राट्स से पेचेक और पेचेक से पांक्राट्स रोज़ हज़ारों कैदियों के लिए मौत का रास्ता हो गया है। बसों में नात्सी सन्तरी ‘हेड्रिक का बदला लेते हैं।’ आध मील जाते-जाते दर्जनों कैदियों के चेहरों से और मुँहों से खून बहने लगता है: पिस्तौल के कुंदों से उन्हें मारा गया है। जो मेरे संग जाते हैं उनका रास्ता अकसर ज़रा आराम से कट जाता है क्योंकि मेरी दाढ़ी से खिलवाड़ करने में ही सब इतने उलझे रहते हैं कि दूसरों को पीटने-पाटने का वक्त ही उनके पास नहीं बचता! मोटर धक्के देती हुई जब आगे बढ़ती है तो संतरी मेरी दाढ़ी पकड़कर लटक जाते हैं, यानी उससे वह वही काम लेते हैं जो मोटर में लगा चमड़े का फीता देता है! यह खेल उनको खास तौर पर भाता है। अच्छा है, यातनाएँ भुगतने के लिए यह अच्छी तैयारी हो जाती है। ये यातनाएँ राजनीतिक परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती हैं, लेकिन खत्म सदा एक ढंग से होती हैं : ‘अगर कल तक तुम्हारी अकल ठिकाने पर नहीं आयी, तो तुम्हें गोली मार दी जायेगी।’

अब इस बात से बिल्कुल डर नहीं लगता। एक शाम के बाद दूसरी शाम, वे सदा ही तो गलियारों में खड़े नाम पुकारा करते हैं। पचास, सौ, दो सौ आदमियों के हाथ-पैर देखते-देखते कस दिये जायेंगे, उन्हें मोटर में डाला जायेगा और बूचड़खाने के जानवरों की तरह कोबिलिसी ले जाया जायेगा, झुंड के झुंड को एक साथ फॉसी लगेगी। उनके खिलाफ अभियोग? पहला तो यही कि कोई भी बात साबित नहीं की जा सकी। वे पकड़े गये थे, किसी बड़े मामले से उनका कोई सम्बन्ध नहीं पाया गया, अब और तहकीकात के लिए उनको कोई जरूरत नहीं है, इसलिए उन्हें फॉसी लगायी जा सकती है, कम से कम इतना काम तो उनसे लेना ही चाहिए? हेड्रिक की हत्या के दो महीने पहले एक साथी ने एक व्यंग्यात्मक कविता लिखकर नौ आदमियों को सुनायी थी। अब सब के सब फॉसी वाली

कोठरी में हैं- ‘हत्या का समर्थन करने के अपराध में’। एक औरत छः महीने पहले इस शक पर पकड़ी गयी थी कि वह गैरकानूनी पर्चे बांटती है। उसने कभी यह स्वीकार नहीं किया, और न इसका कोई सबूत ही है। फिर भी उन्होंने उसके भाई-बहनों, उसके भाइयों की पत्नियों और बहनों के पतियों को पकड़ लिया है और उन सब की हत्या करने जा रहे हैं क्योंकि ‘संदिग्ध लोगों’ के समूचे परिवार का संहार इस मार्शल लॉ का मूल मंत्र है। एक डाकिया, जो गलती से पकड़ा गया है गलियारे में खड़ा इन्तजार कर रहा है कि अब उसे छोड़ दिया जायेगा। उसका नाम पुकारा जाता है, और वे लोग उसे ठेल-ठालकर फॉसी की सज़ायाफ्ता लोगों की पाँत में खड़ा कर देते हैं, गाड़ी में बिठालकर ले जाते हैं और गोली मार देते हैं। दूसरे दिन उनको पता चलता है कि उनसे भूल हो गयी: उसी नाम के किसी दूसरे आदमी को गोली मारनी थी। लिहाज़ा उन्होंने उस दूसरे आदमी को भी गोली मार दी, और अब सारा मामला ठीक हो गया। अब किसके पास इतना वक्त धरा है कि मिलाता बैठे कि जिस आदमी को गोली मारी जा रही है वह सही आदमी है या नहीं? और वक्त अगर हो भी तो उसकी जरूरत भी क्या जब कि धीरे-धीरे सारे राष्ट्र को ही मार डालना उनका उद्देश्य है।

उस रात मैं ‘पेशी’ से बहुत देर में लौटा। देखता हूँ कि दीवार के पास ब्लाडिमीर वांचुरा (सबसे अधिक प्रतिभासंपन्न चेक उपन्यासकारों में से एक) खड़ा है, उसकी चीज़ों की एक छोटी सी पोटली उसके पैरों के पास रखी है। मैं उसका मतलब अच्छी तरह समझता हूँ। और वह भी समझता है। हम एक क्षण के लिए मज़बूती से हाथ मिलाते हैं। मैं ऊपर वाले गलियारे से अब भी उसे देख सकता हूँ, सिर ज़रा-सा झुकाये वह खड़ा है और उसकी आँखें दूर, हम लोगों की ज़िन्दगी से परे बहुत दूर कहीं ताक रही हैं। आध घण्टे बाद उसका नाम पुकारा गया...

कुछ दिनों बाद मिलोश क्रास्नी उसी दीवार की ओर मुँह किये खड़ा था, इंकलाब का एक बहुत बहादुर सिपाही जो पिछले साल अक्टूबर में पकड़ा गया था। यातनाएँ और कालकोठरी उसे तोड़ नहीं सकी। चेहरे को थोड़ा सा दीवार से एक ओर को फेरे वह अपने पीछे खड़े संतरी को शांतिपूर्वक कुछ समझा रहा है। वह अचानक मुझको देखता है, मुस्कुराता है, अलविदा कहने के लिए झटके से सर ऊपर को फेंकता है और संतरी से बदस्तूर बोलता जाता है :

‘इस सबसे कुछ न होगा। मेरी तरह और भी बहुत से लोग अभी मरेंगे, लेकिन आखिर में हार तुम्हारी होगी...’

फिर एक दिन और हम लोग दोपहर के वक्त, पेचेक बिल्डिंग में नीचे खड़े खाने का इन्तज़ार कर रहे थे। वे लोग एलियाश को लाये, उसकी बगल में एक अखबार दबा हुआ था। वह उसकी तरफ इशारा करता है और मुसकुराता है, क्योंकि उसने अभी पढ़ा था कि उन्होंने साबित कर दिया है कि हेड्रिक की हत्या में उसका हाथ है (बावजूद इसके कि पिछले आठ महीने से वह जेल में था)!

‘खुराफात!’ उसने कहा और खाने लगा।

उस शाम को हम लोगों के संग पांक्राट्स लौटते समय, वह दिल्ली के लहजे में इसके बारे में बात करता है। लेकिन एक घंटे बाद ये उसे उसकी कोठरी से ले जाते हैं और कोबिलिसी भेज देते हैं। लाशों का ढेर बढ़ता जा रहा है। अब वे लोग दसों में या सैंकड़ों में नहीं हज़ारों में गिनती करते हैं। ताजे खून की बू से इन दरिन्दों के नथुने फड़कने लगते हैं। वे रात बड़ी देर तक और इतवारों को भी, 'काम' करते हैं। अब वे सब एस. एस. की वर्दियाँ पहनते हैं; यह उनका जश्न है, कल्ल का यह त्योंहार। वे मजदूरों, स्कूल के मास्टर्स, किसानों, लेखकों, अफसरों सब को मौत के घाट उतारते हैं, मर्दों, औरतों और बच्चों को कल्ल करते हैं, पूरे-पूरे कुनबों का सफाया कर देते हैं, गाँव के गाँव जला डालते हैं, उनका नामोनिशान मिटा देते हैं। बन्दूक की नली से निकली हुई सीसे की गोली की शकल में मौत प्लेग की तरह सारे देश में घूमती और सबको सुलाती चलती है।

लेकिन इस भयानक हालत में भी लोग जीते हैं।

विश्वास नहीं होता लेकिन लोग अब भी जीते हैं, खाना खाते हैं, सोते हैं, प्रेम करते हैं, काम करते हैं और ऐसी हज़ार चीज़ों के बारे में सोचते हैं जिनका कोई सम्बन्ध मौत से नहीं है। उनके दिमागों में कहीं भयानक तनाव है, लेकिन उसे वे बर्दाश्त करते हैं। वे सिर नहीं झुकाते और न दम ही तोड़ते हैं।

मार्शल लॉ लगा था तो क्या, मेरा कमीसार मुझे ब्रानिक ले गया। जून के सुन्दर महीने की हवा नीबू और कीकर के फूलों की मीठी खूशबू से भारी हो रही थी। इतवार की शाम थी और मोटर के लिए नियत लाइन को छोड़ने के बाद सड़क इतनी चौड़ी न थी कि सैर-सपाटे से लौटनेवाले उन लोगों के रेले को संभाल सकती। वे सब बहुत खुश थे और शोर मचा रहे थे, दिन भर सूरज और पानी के आलिंगन में और अपने प्रेमी-प्रेमिका की बाँहों में गुज़ारने के बाद उनके अंगों में अब एक सुखद-सी, मीठी-सी, गुलाबी थकन थी। सिर्फ यह था कि मौत उनके चेहरों पर नहीं दिखायी देती, गो कि वह उनके बीच उनके संग-संग चल रही थी और कभी-कभी उनमें से एकाध का शिकार कर लेती थी। वे बिल्कुल खरगोशों की तरह झूमते हुए चलते हैं और चलते-चलते गिर पड़ते हैं, और चालक भी वह उन्हीं की तरह हैं। बिल्कुल खरगोशों की तरह! उनके बीच पहुँच जाओ और एक को खाने के लिए मार लाओ। ज़रा देर को वह सब कोने में दुबककर बैठते हैं, लेकिन फिर झट तमाम बाहर निकल आते हैं, अपनी खुशियों और परेशानियों समेत, जीवन के उल्लास से भरपूर।

जेल की घिरी-बँधी ज़िंदगी से उखाड़कर किसी ने मुझे यकायक आदमियों के इस हुजूम में लाकर खड़ा कर दिया और यह मीठा सुख पहले-पहल मुझे कड़वा लगा।

लगना चाहिए नहीं था, गो कि।

यहाँ पर मैं जो कुछ देख रहा हूँ वह ज़िन्दगी है और जहाँ से मैं अभी-अभी चला आ रहा हूँ वह भी ज़िन्दगी है। चाहे कुछ ही क्यों न करो, जीवन को नष्ट नहीं किया जा सकता, हो सकता है कि किसी एक बिन्दु पर तुम उसे पीट-पीट कर उसका भुर्ता बना दो,

लेकिन सौ दूसरी जगहों से उसकी कोंपलें फूटेंगी। यह ज़िन्दगी है और सदा मौत पर भारी पड़ती है। इसमें कड़वेपन की क्या बात है?

और हम लोग जो कि यन्त्रणाओं के बीच जेल की कोठरियों में रहते हैं, सारी कौम से अलग किसी धातु के बने हैं?

कभी-कभी मैं पुलिस की गाड़ी में बैठकर, जिसके संतरी काफी शराफत से पेश आते, अपनी पेशियों के लिए जाता। मैं खिड़की में से सड़क को देख सकता था, दुकानों की सजी खिड़कियों को देख सकता था, फूल बिकने की जगह देख सकता था, राह चलने वालों की भीड़ देख सकता था, औरतों को देख सकता था। एक बार मैंने मन में कहा भी कि जिस दिन मुझे नौ जोड़ा हसीन टॉगें दिखायी देती हैं उस दिन मुझे फाँसी नहीं लगती। फिर मैं उन्हें देखने लगा, उनके अंगों के ढलाव को बारीकी से मिलाने लगा, टॉगों में बहुत गहरी दिलचस्पी ले-लेकर उन्हें पास और फ़ेल करने लगा बगैर इस बात की ज़रा फिक्र किये कि उस पर मेरी ज़िन्दगी निर्भर थी, मानो यह सब सिर्फ कुछ रेखाओं की बात हो और उसके संग एक ज़िन्दगी का मसला गुँथा हुआ न हो।

ज़्यादातर वे मुझे बहुत देर में वापस लाते। और डैड पेशेक सदा परेशान रहते कि मैं लौटूंगा भी कि नहीं। वह मुझे गले से लगाते और मैं उन्हें सब खबरें जो मैंने सुनी होतीं, बता देता, जैसे कल रात कोबिलिसी में कौन-कौन मारे गये। उसके बाद हमें, भूख से मजबूर होकर; सुखाकर रखी हुई तरकारियों का नफरत पैदा करने वाला भुर्ता खाना पड़ता। तब हम कोई अच्छा मजेदार गाना गाने लगते या अगर गुस्से में हैं और तबीयत गिरी हुई है तो चौपड़ खेलने लगते और थोड़ी देर के लिए जी बिल्कुल बहल जाता। हमारे शाम के घंटे इसी तरह बीतते, जब कि यह अन्देशा पूरे वक्त रहता था कि अब हमारी कोठरी का दरवाज़ा खुला और हममें से किसी कि मौत का परवाना सुनाया गया।

'तुम या तुम, नीचे चलो। अपनी सब चीज़ें ले लो। जल्दी, फौरन!'

मगर उस वक्त हममें से किसी की मौत का परवाना नहीं आया। उन भयानक घड़ियों में से हम ज़िन्दा निकल आये। अब जब हम उस वक्त की अपनी भावनाओं के बारे में सोचते हैं तो हमें अचंभा होता है। आदमी कैसी अजीब मिट्टी का बना होता है- हम लोग असह्य चीज़ें भी सह ले जाते हैं।

सह ले जायें मगर यह संभव नहीं कि ऐसी घटनाएँ हमारी ज़िन्दगी पर गहरे निशान न छोड़ जायें। वे हमारे दिमाग की झिल्ली के नीचे फिल्म के छोटे-छोटे रोलों की तरह लिपटी पड़ी रहती हैं और बाद को असली ज़िन्दगी में-अगर तब तक हम लोग जिये-पागलपन की शकल में खुलती हैं या शायद बाद में वे बड़े-बड़े कब्रिस्तानों की शकल में खुलें या हरे-हरे बागों की शकल में जिन्हें उस सब से महँगे, आदमी की ज़िन्दगी के, बीज से लगाया गया है।

वह सब से अमूल्य चीज़, एक न एक दिन जिसमें अँकुआ फूटेगा, जो एक न एक दिन गहगहाकर फूलेगी।

...कमशः जारी

उत्तर-वैदिक काल

■ मुक्तिबोध

...पिछले अंक से जारी

ब्राह्मण युग

यह युग आर्य संस्कृति के प्रसार और विकास, अभ्युत्थान और उत्कर्ष तथा विभिन्नीकरण का युग है। वैदिक सभ्यता की सरिता अब यहाँ महानदी बन रही है। अनुभूति और तर्क, चिन्तन और अन्वेषण ने देश भर में नया वैचारिक वातावरण बना दिया है। भारतीय मस्तिष्क अपने सम्पूर्ण सामर्थ्य के साथ जगमगाने लगा है, जिसका प्रभाव विश्व के विभिन्न देशों और विभिन्न सहस्राब्दियों में विस्तृत और घनीभूत होता रहा।

भारतीय इतिहास में उत्तर-वैदिक काल का विशेष महत्व है। इस काल में अभ्युदय और उत्कर्ष, विस्तार और प्रसार के साथ ही, मतभेद और ऊहापोह, व्याख्या और विश्लेषण, अनुभूति और साक्षात्कार, विचार-स्वातन्त्र्य और विरोध, अनुरोध और अन्वेषण की एक बहार आ गयी। और यह बहार सदियों तक ऐसी टिकी कि आज भी उसका सौरभ यूरोप के तत्व-चिन्तकों को अनुभूत होता है।

इस काल में हमारे धर्म, दर्शन, नीति, आचार-विचार, मत-विश्वास आदि की प्रधान रूपरेखा निश्चित और सुस्पष्ट हो गयी।

वह एक बहुत लम्बा ज़माना था, जो कम-से-कम आठ सौ-नौ सौ वर्षों तक टिका। ईसा के 2000 साल पहले से शुरू होकर वह लगभग एक हज़ार साल तक अर्थात् महाभारत युद्ध तक रहा। इस प्राचीन युद्ध का समय ई.पू. 1000-900 वर्ष माना जाता है। महाभारत युद्ध के बाद, भारतीय समाज फिर बदलने लगा।

आर्य संस्कृति का विस्तार जो पश्चिम कोण से शुरू हुआ था, वह क्रमशः यमुना, गंगा, सदानीरा (गण्डक) के पार दक्षिण तथा उत्तर बिहार और अंग (उड़ीसा) तक पहुँच गया। उधर, आर्यों ने अपने उपनिवेशों का क्रमशः विस्तार करते हुए, विन्ध्याचल पार कर लिया और उन्होंने गोदावरी नदी के उत्तर के तटीय प्रदेशों में भी अपने राज्य स्थापित कर लिये। 'कृष्णन्तो विश्वमार्यम्' के सिद्धान्त का प्रयोग अभूतपूर्व रूप से सफल होता गया।

किन्तु, इस बीच नयी-नयी आर्य जातियाँ, पूर्वतर आर्य जातियों के परस्पर विलयन से बहुसंख्यक होकर नया रूप और नाम, प्रदेश और राजनीति लेकर उपस्थित हुई थीं। कुरु और

पांचाल राज्य अब प्रधान हो उठे। कुरुओं की राजधानी आसन्दीवत थी तथा पांचालों की काम्पिल्य। इनका प्रदेश पूर्वी पंजाब अर्थात् सरस्वती नदी से लेकर यमुना तक का प्रदेश समझ सकते हैं। इनके पूर्व में, कोशल (अवध), काशी और विदेह (उत्तर बिहार), तथा मगध (दक्षिण बिहार), और अंग (उड़ीसा) के राज्य बन गये। यहाँ तक कि नये प्रदेशों के साथ, नयी जातियों के नाम भी सुनायी पड़े, जैसे दक्षिण-पश्चिम में पुलिन्द, मध्य प्रान्त तथा उड़ीसा के शबर, बंगाल के पुंडु और इनके अतिरिक्त आन्ध्र, यहाँ तक कि अब (ऐतरेय और जेमिनीय ब्राह्मण ग्रन्थों में) विदर्भ का नाम भी सुनायी दिया। पूर्व तथा दक्षिण की ओर प्रसार पाने वाली आर्य जातियों में वर्ण संकरता बढ़ती ही गयी। फलतः उत्तर तथा पश्चिम के आर्य-जैसे कुरु तथा पांचाल-उनके प्रति असम्मान और अनादर के भाव रखने लगे। ये आर्य उन्हें निम्न समझते थे।

किन्तु, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से पूर्व के आर्य क्रमशः प्रभावशाली होने लगे। आर्य संस्कृति का केन्द्र भी धीरे-धीरे पूर्व की ओर हटता जा रहा था। महाभारत-युद्ध के काल तक वह पश्चिमी पंजाब से पूर्वी पंजाब अर्थात् सरस्वती और गंगा के मध्य के प्रदेश में आ गया। महाभारत युद्ध के बाद वह धीरे-धीरे पूर्व की ओर बढ़ता हुआ दक्षिण बिहार अर्थात् मगध में पहुँच गया। किन्तु महाभारत युद्ध के समय मगध एक पिछड़ा हुआ और बर्बरतापूर्ण प्रदेश समझा जाता था।

उत्तर-वैदिक काल के प्रारम्भ होते ही, अब हमें भव्य नगरों और विस्तृत राज्यों के उल्लेख मिलने लगते हैं और वे उल्लेख क्रमशः बढ़ते जाते हैं। साथ ही राजा-नामधारी नेता अर्थात् नरेश की सत्ता समाप्त होकर उसके स्थान पर वास्तविक राजाओं और सर्वाधिकार या परमाधिकार (अर्थात् सर्वोच्च अधिकार) वाले राजाओं का अभ्युदय होता है। युद्धों में नरेशों ने जो सफल नेतृत्व किया वही नेतृत्व अब अधिनायकत्व बन गया। राजा लोग अपनी प्रजा पर अनियन्त्रित राज्य-सत्ता रखने का दावा करने लगे। जन-साधारण से तरह-तरह के कर लिये जाते, जिसमें 'बलि', 'शुल्क', और 'भाग' नामक कर मुख्य हैं। उधर राजा में दैवी गुण माने जाने लगे। जो राजा अनेक युद्धों में सफल हो जाता उसे सार्वभौम, एकराट, विराट, अधिराज माना जाता। वह अब 'राजसूय', 'अश्वमेध' आदि यज्ञों का विधान कर, अपने राज्य को 'साम्राज्य' में

परिणत करने का स्वप्न देखता। हाँ, उसे ब्राह्मणों की सत्ता अवश्य माननी पड़ती थी।

उत्तर-वैदिक काल में राजतन्त्र के विकास के साथ-साथ गणतन्त्र का भी विकास हुआ ये गणतन्त्र कई तरह के थे। हिमालय के उत्तर-कुरु और उत्तर-मद्र नामक प्रदेशों में गणतन्त्र व्यवस्था को वैराज्य कहते और प्रधान शासक नेता को 'विराट'। उसी प्रकार दक्षिण-पश्चिम में सात्वतों (यादवों) का जो प्रदेश था, वहाँ समाज का मुखिया ही राजा था, अर्थात् वह संघ का मुख्य नेता था, न कि वंशानुक्रमागत राजा। उस शासन-व्यवस्था को भोज्य कहा जाता, और राज-प्रमुख को भोज। दक्षिण-पश्चिम के सुराष्ट्र, सुवीर, कच्छ आदि प्रदेशों में 'स्वराज्य' प्रथा प्रचलित थी, तथा वहाँ का शासक 'स्वराट्' कहलाता। यह शासक वस्तुतः समान अधिकारवाले जन-सामान्य में केवल ज्येष्ठ होता था और अपने कर्मों से श्रेष्ठ माना जाता था। वस्तुतः वहाँ कुलीन घरानों का शासन था। सब कुलीन घरानों के अधिकार समान थे। मध्य-प्रदेश में (कुरु, पंचाल, कोशल आदि में) 'राज्य' नामक शास-व्यवस्था थी। वहाँ का शासक राजा कहलाता। वहाँ वस्तुतः वंशानुगत राजा। उसी प्रकार पूर्व दिशा में मगध, कलिंग (उड़ीसा), बंग में 'साम्राज्य' नामक राज्य-व्यवस्था थी। वहाँ का शासक 'सम्राट्' कहलाता और उसका विधिपूर्वक राज्याभिषेक होता।

वर्ण-भेद : वर्णाश्रम व्यवस्था दृढ़ हो चुकी थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र-ये चार वर्ण स्थापित हो चुके थे। ब्राह्मण वर्ण सर्वोच्च वर्ण था; और शेष वर्ण क्रमशः निम्नतर थे। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास, ये चार आश्रम भी आयु की क्रमिक अवस्थाओं के अनुसार थे। ये आश्रम शूद्रों के लिए नहीं थे। शूद्र वर्ण, ऋग्वेद काल में तो आर्य विशः (आर्यजन) से अलग था; किन्तु, अब वह व्यवस्थाबद्ध समाज की ही एक विशेष श्रेणी के रूप में स्थापित हुआ। विभिन्न वर्णों में विवाह अब भी होते थे। उनसे वर्ण-संकर जातियाँ बनती जाती थीं। जाति (वर्ण) कर्मणा होने के अतिरिक्त जन्मना भी थी। यद्यपि समाज में ब्राह्मणों का प्राधान्य था; किन्तु क्षत्रिय वर्ग प्रभावशाली हो उठा था; वह धर्म-कर्म में भी भाग लेता और कभी-कभी ब्राह्मणों की भाँति ही आध्यात्मिक ज्ञान से युक्त होकर, धर्म की व्याख्या तथा धर्म का नेतृत्व करता। स्त्रियों की स्थिति बहुत उच्च थी। गार्गी-जैसी स्त्रियाँ शास्त्रार्थ भी करती थीं। वे ब्रह्मचर्य का पालन करतीं। गोभिल गृह्य सूत्र में कहा गया है, जब कोई कुमारी विवाह-मण्डप में आती थी तो वह न केवल सुन्दर वस्त्रों को पहने हुई होती वरन् वह यज्ञोपवीत भी धारण किये रहती।

इस प्रकार; सर्वसाधारण आर्य किशोरियों का उपनयन होता। आपस्तम्ब सूत्र में कहा गया है कि जिस पति ने अन्याय से अपनी पत्नी को त्यागा है, वह पति गधे का चमड़ा ओढ़कर

प्रत्येक दिन सात-सात घर भीख माँगे, यह कहते हुए कि उस पुरुष को शिक्षा प्रदान करो, जिसने अपनी पत्नी को त्याग दिया है। उसकी यह भिक्षावृत्ति 6 मास तक रहती।

प्राचीन वैदिक काल में वैश्य खेतिहर थे, पशुपालक थे। किन्तु, अब वैश्य व्यापारी हो गये। उत्तर-वैदिक काल में व्यापारियों का अभ्युदय हुआ। उनका प्रभाव भी खूब बढ़ा। उनमें से जो धनी थे, वे श्रेष्ठिन् (सेठ) कहलाते थे। राजसभाओं में भी उनका सम्मान होने लगा। पूर्व भारत के वर्णसंकर शासक-क्षत्रियों और वैश्यों में बड़ा मेल-जोल हुआ। उधर खेती तथा पशुपालन का काम शूद्र करने लगे। शूद्र न केवल खेतिहर और पशुपालक हुए, वरन् वे रथकार, चर्मकार, लोहकार, मत्स्यमार (मछली-मार) भी हुए। संक्षेप में, पेशों और धन्धों के अनुसार जातियाँ बनने लगीं। शूद्रों का समाज से केवल निष्कासन (निकाला जाना) ही नहीं, वरन् उनका वध भी किया जा सकता था।

धर्म तथा दर्शन : उत्तर-वैदिक काल में, नये देवताओं का प्रादुर्भाव हुआ, जैसे, ब्रह्मा, विष्णु, महेश। जन्म, विकास और मृत्यु, उत्पत्ति, पालन और संहार- इन तीन प्राकृतिक क्रियाओं के ये तीन सर्वोपरि देवता थे। ब्रह्म सृष्टिकर्ता, विष्णु पालनकर्ता तथा शिव संहारकर्ता हो उठे। इनके अतिरिक्त, प्राचीन देवता भी साथ चलते जा रहे थे। कुछ प्राचीन देवताओं को नये देवताओं के साथ जोड़ दिया गया, जैसे वैदिक देवता रुद्र को शिव से। प्राचीन परम्परा को विकसित करते हुए, उनका इस प्रकार निर्वाह किया गया।

ऋषि-मुनि अरण्य में जाकर तत्व-चिन्तन करने लगे। अब उनके मन में यह धारणा जगने लगी कि सृष्टि की उत्पत्ति, विकास और प्रलय केवल एक ही तत्व की तीन प्रक्रियाएँ हैं। वह तत्व कौन-सा है? कुछ ने कहा वह तत्व ईश्वर है। उस ईश्वर की आराधना होनी चाहिए, हमें सम्पूर्ण हृदय से उसे कण-कण में प्रतिबिम्बित देखना चाहिए। ऐसी धारणाएँ रखने वाले ऋषि-मुनियों तथा उनके प्रभाव के अन्तर्गत अन्य जनों के अन्तःकरण में, यज्ञ तथा कर्मकाण्ड आदि का उतना महत्व नहीं रहा। किन्तु, साथ ही उन्होंने यज्ञ तथा कर्मकाण्ड का विरोध भी नहीं किया।

वह स्वतन्त्र चिन्तन का काल था। कुछ लोग ईश्वर को मानते, कुछ न मानते। मतभेद तथा अन्वेषण, व्याख्या और विश्लेषण, अनुभूति और प्रयोग का वह युग था। मतभेद होते हुए भी, बहुत-से लोग वैदिक परम्परा के प्रति अपनी श्रद्धा प्रदान करते। किन्तु ऐसे भी चिन्तक थे, जो वैदिक परम्परा ही का विरोध करते थे। इन्में ब्राह्मण मुख्य थे। वे भी अब चुपके-चुपके अपने प्रभाव का विस्तार कर रहे थे।

इधर, वैदिक साहित्य विशालतर हो रहा था। एक-एक वेद से एक-एक ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद जुड़ता जा रहा था। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों का विस्तृत वर्णन था। ऋग्वेद के ब्राह्मण

ग्रन्थ थे ऐतरेय, कौशीतकी और सांख्यायन। यजुर्वेद के दो भाग हो गये, शुक्ल और कृष्ण। दोनों के ब्राह्मण ग्रन्थ सामने आये-कृष्ण का तैत्तिरीय और शुक्ल का शतपथ। शतपथ ब्राह्मण बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

अरण्यवासी मुनियों ने आरण्यकों और उपनिषदों की रचना की। उपनिषद का अर्थ है पास बैठना (अर्थात् गुरु के समीप बैठकर ज्ञान ग्रहण करना)। आरण्यक का अर्थ है वनवासी ऋषियों द्वारा प्रणीत ग्रन्थ। अरण्य अर्थात् वन। वैदिक धर्म का सर्वोच्च विकास उपनिषदों में हुआ। अब हम उपनिषदों के सम्बन्ध में कुछ जान लें। प्रथम है ऐतरेय उपनिषद, जो ऐतरेय ब्राह्मण ही का खण्ड है। दूसरा है ईशोपनिषद। यह यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय है। (यजुर्वेद से सम्बन्ध रखने वाले अन्य उपनिषद हैं कठोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, तैत्तिरीय उपनिषद् आदि)। तीसरा-सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थों से सम्बन्ध रखनेवाले उपनिषद हैं, केन तथा छान्दोग्य। अथर्ववेद के साथ सम्बन्ध रखनेवाले उपनिषद हैं-प्रश्न उपनिषद, मुण्डक उपनिषद, माण्डूक्य उपनिषद। उपनिषदों में ऋषियों की दार्शनिक अनुभूतियाँ हैं। फलतः उनमें परस्पर विरोध-अन्तर्विरोध भी हैं। ऐसी स्थिति में, यह स्वाभाविक ही था कि बुद्धि के प्रयास द्वारा, ऋषियों के उन मतों के आधार पर, विभिन्न दर्शनों का विकास हो। आत्मा क्या है? सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई? जगत् के कौन-से मूल-तत्व हैं? पूरे ब्रह्माण्ड का कोई कर्ता है भी या नहीं? क्या जगत् किसी शक्ति के अनुशासन में है अथवा प्रकृति के नियमों के अनुसार चलता है? प्रकृति किसे कहते हैं, उसके गुण-धर्म क्या हैं? आत्मा और परमात्मा का स्वरूप क्या है, उसके अस्तित्व को स्वीकार करना क्या आवश्यक है? इत्यादि अनेकानेक बातों पर, विचार, ऊहापोह, चर्चा, वार्ता, मतभेद इस प्रकार चलते रहे कि जिससे वे एक-दूसरे के पूरक हो उठे। फलतः भारत में नये-नये दर्शन बने।

दर्शन दो प्रकार के हैं। एक वे जो आस्तिक कहलाते हैं। आस्तिक वे जो वेदों में विश्वास रखते हों, भले ही वे ईश्वर पर विश्वास रखें या न रखें। मीमांसा दर्शन के ऋषि जैमिनि ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते थे। किन्तु वैदिक परम्परा में उनका विश्वास था। इसलिए वे आस्तिक कहलाये। नास्तिक दर्शन उन्हें कहते हैं जो वेदों में और वैदिक परम्परा में विश्वास नहीं रखते। जैसे, जैन, बौद्ध, चार्वाक मत। ये नास्तिक दर्शन हैं। आस्तिक दर्शन हैं-सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त। न्याय दर्शन, वस्तुतः तर्कशास्त्र है, और तर्कशास्त्र पर आधारित जीवन-जगत् की व्याख्या है, सृष्टि और आत्मा के स्वरूप का विश्लेषण है। न्याय-दर्शन के प्रवर्तक गौतम ऋषि हैं। वैशेषिक दर्शन, न्याय की ही भाँति, किन्तु भिन्न पद्धति से, सृष्टि की व्याख्या करता है, वैसे ही आत्मा की भी। दोनों दर्शनों का

झुकाव, बाह्य संसार और सृष्टि अर्थात् भौतिक तत्वों का स्वरूप जानने की ओर अधिक है। इसीलिए, आगे चलकर, दोनों दर्शन लगभग एक हो गये और न्याय-वैशेषिक कहलाये। वैशेषिक मत के प्रतिष्ठापक कणाद मुनि कह जाते हैं।

सांख्य : न्याय, वैशेषिक, सांख्य तीनों सृष्टि को सृष्टि ही मानते हैं, उसको परमात्मा का प्रकट रूप नहीं मानते। अन्तर केवल यह है कि सांख्य ने 'प्रकृति' और 'पुरुष' इन दो श्रेणियों की कल्पना की। दोनों के योग से सारी सृष्टि की उत्पत्ति और विकास हुआ। सृष्टि की उत्पत्ति, विकास और प्रलय के लिए सांख्य ईश्वर को आवश्यक नहीं मानता। सांख्य का 'पुरुष' तत्व ईश्वर नहीं है। यह केवल चेतना का केन्द्र है, और ऐसे केन्द्र अनगिनत हैं।

सांख्य दर्शन के प्रवर्तक कपिल मुनि थे। योग दर्शन भी यह मानता है कि प्रकृति ही से संहार, उत्पत्ति और विकास हुआ। किन्तु, यह दर्शन प्रकृति और पुरुष के साथ-साथ ईश्वर की सत्ता को भी स्वीकार करता है। योग दर्शन के अधिष्ठाता पतंजलि हैं। मीमांसा के मूल आचार्य जैमिनि हैं। उन्होंने वैदिक कर्म-काण्ड ही के औचित्य का तर्कपूर्ण प्रतिपादन किया।

वेदान्त दर्शन : यह दर्शन 'वेदान्त' इसलिए कहा जाता है कि तत्व-चिन्तन का चरम उत्कर्ष इसी दर्शन में हुआ। वेदान्त दर्शन के प्रणेता हैं बादरायण व्यास। वेदान्त के अनुसार, जीवन और जगत्, सृष्टि और आत्मा में समाया हुआ केवल एक ही तत्व है। वह है ब्रह्म या परमात्मा। सृष्टि या जगत् तथा जीवात्मा आदि इसी परमात्मा का व्यक्त रूप है, पृथक आंशिक रूप या खण्ड रूप है।

बादरायण व्यास ने वेदान्त सूत्रों की रचना की। इन सूत्रों के, आगे चलकर, अनेक भाष्यकार हुए। इन भाष्यकारों ने (जैसे शंकराचार्य, रामानुजाचार्य आदि ने) उन सूत्रों की व्याख्या करके, अपने-अपने अलग-अलग मत प्रतिपादित किये। वेदान्त को अद्वैत मत भी कहते हैं।

विदेशों में प्रभाव : भारतीय तत्व-चिन्तन का प्रभाव, यूनान में प्लाटिनस तथा सेण्ट आगस्टाईन जैसे ईसाई चिन्तकों पर पड़ा। यह प्रभाव उन्होंने पश्चिमी एशिया से लिया। पश्चिमी एशिया में हमारे आध्यात्मिक चिन्तन का गहरा प्रभाव था। वहीं इस्लाम के कुछ साधुओं ने उसे आत्मसात् किया। उससे सूफी मत का आविर्भाव हुआ।

इस आध्यात्मिक तत्व-चिन्तन का दूसरा प्रभाव आधुनिक काल में हुआ। वैदिक साहित्य योरोपीय भाषाओं में अनुवादित होकर जब पश्चिम मनीषियों द्वारा पढ़ा गया तो वे बहुत प्रभावित हुए। अमरीका का चिन्तक इमर्सन तथा जर्मन दार्शनिक शापेनहॉर इसके उदाहरण हैं।

मध्य युग में सूफी मत जब भारत में आया तो उस पर भारतीय तत्व-चिन्तन का फिर से प्रभाव हुआ, उसमें योग के

सिद्धान्त प्रवेश कर गये।

इस प्रकार जगत् को प्रभावित करने वाला यह भारतीय तत्व-चिन्तन, उस प्राचीनकाल में, हमारे यहाँ केवल उच्च वर्ग के ब्राह्मणों तक ही अथवा उनके प्रभाव में रहनेवालों तक ही सीमित था। शेष सामान्य भारतीय समाज यज्ञ-याग, कर्मकाण्ड, तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोने में अगाध श्रद्धा रखता था।

कर्म-सिद्धान्त : कुछ मूल-भूत विश्वास भारत में प्रचलित हो गये-जैसे कर्म-सिद्धान्त। यह विश्वास था कि जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न जीव-जातियों की देह ग्रहण करता है। उसका पुनर्जन्म होता रहता है। यह पुनर्जन्म कर्मों के अनुसार होता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त कर्म के सिद्धान्त से जुड़ा हुआ है। इसलिए यह आवश्यक है कि पुनर्जन्म से छुटकारा पाने के लिए कर्म-बन्धन से मुक्ति मिले। कर्म-बन्धन से मुक्ति का अर्थ होता है संसार के बन्धनों से मुक्त होना, क्योंकि जब तक संसार है, कर्मबन्धन भी है। यह मुक्ति या मोक्ष देवताओं की कृपा से, आत्म-साक्षात्कार से, अथवा आत्म-नियंत्रण द्वारा प्राप्त हो सकता है।

इस सिद्धान्त पर लगभग सारी भारतीय जनता का विश्वास था। फलतः, तप और संसार-परित्याग अर्थात् संन्यास का महत्व बढ़ चला। आत्म-पीड़ा की प्रवृत्ति खूब बढ़ गयी। कर्म-सिद्धान्त का प्रभाव इतना व्यापक था कि वैदिक परम्परा का विरोध करने वाले बहुतेरे उसे मानते थे। जैन और बौद्ध धर्म जैसे वेद-विरोधी मत भी इसको स्वीकार करते थे।

फिर भी, कुछ ऐसे थे, जिन्होंने कर्म-सिद्धान्त की कठोर भर्त्सना की। उनमें प्रमुख था-चार्वाक। उसने भौतिकवादी दर्शन का प्रणयन किया।

भाषा-परिवर्तन : उत्तर-वैदिक काल में भाषा का परिवर्तन भी होता गया। वैदिक संस्कृति अनेक प्राकृतों में बदलने लगी। ये प्राकृतें विभिन्न प्रदेशों में बोली जातीं। जिन दिनों वैदिक संस्कृत लौकिक संस्कृति होने लगी, प्राकृतों का क्या रूप था, हम नहीं जानते। लौकिक संस्कृत शिष्टों और शिक्षितों की भाषा थी। प्राकृतें-सामान्य जनो की। इन्हीं प्राचीन प्राकृतों में से आगे चलकर-शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री आदि प्राकृतों का विकास हुआ।

महाकाव्य : प्रत्येक मानव-जाति में अपने-अपने वीरों की कथाएँ, प्राचीन महत्वपूर्ण घटनाएँ, परम्परा द्वारा, पीढ़ी-दर-पीढ़ी कहानी या किस्से के रूप में चली आती हैं। प्राचीनकाल में राजाओं के यहाँ सूत तथा मागध (बन्दीगण या भाट) इन प्राचीन कथाओं को गाया करते थे, या उन्हें गद्य रूप में सुनाया करते थे। इसलिए उन कथाओं को अनुश्रुति कहते हैं। इन अनुश्रुतियों में वास्तविक इतिहास के साथ कल्पना का योग कर ऐतिहासिक सत्यता को कल्पनात्मक मिथ्या के साथ मिला दिया जाता था। ईसा के लगभग 500 वर्ष पूर्व

रामायण बनी। वाल्मीकि ऋषि द्वारा प्रणीत यह रामायण पिछली अनुश्रुतियों पर आधारित थी। इस ग्रन्थ में कालान्तर में नये-नये अंश और अध्याय जुड़ते चले गये। आज जो वाल्मीकि रामायण हमें प्राप्त होती है, वह ईसा के सिर्फ सौ वर्ष पहले तैयार हुई थी। वाल्मीकि रामायण में जो समाज-चित्र उपस्थित किया गया है, वह मुख्यतः ईसा के 500 वर्ष पूर्व का है। किन्तु, मुख्य कथा-वस्तु, अर्थात् राम के जीवन की घटनाएँ; प्रसंग आदि बहुत प्राचीन है।

महाभारत का आख्यान भी ईसा के लगभग 500 वर्ष पूर्व बना। इस काल तक वह केवल 'भारत' कहलाता था। भारत से महाभारत बनने में उसे कई सदियों लगीं। आज जिस रूप में महाभारत है, वह ईसा के दो सौ वर्ष बाद हमारे सामने आया। वैसे महाभारत की ऐतिहासिक घटना रामायण के बाद की है।

मुख्य बात यह है कि वे जातीय महाकाव्य हैं। वे केवल एक ही व्यक्ति की उपज नहीं, वरन् विभिन्न कालों के विभिन्न व्यक्तियों द्वारा प्रणीत हैं। सावधानी से छानबीन करने वाले इतिहासज्ञों को उन ग्रन्थों में भाषा-भेद दिखायी देता है-कोई भाषा प्राचीन संस्कृत तो कोई अर्वाचीन। इन जातीय महाकाव्यों में हमारे आदर्श, संस्कार, आचार-विचार, मत-विश्वास और रूढ़ियाँ और परम्पराएँ सुरक्षित हैं।

भगवद्गीता व भागवत सम्प्रदाय : गीता महाभारत का ही एक अंग है। गीता में कर्मयोग बताया गया है। कर्मयोग का अर्थ है स्वधर्म-पालन। भगवद्गीता में सांख्य तथा वेदान्त का प्रभाव परिलक्षित होता है।

मध्य युग में, भक्ति-आन्दोलन के अभ्युदय के बहुत पूर्व, बौद्ध तथा जैन धर्म के भी पहले, हमारे यहाँ कुछ क्षेत्रों में भागवत सम्प्रदाय प्रचलित था। इस सम्प्रदाय के प्रधान-पुरुष वसुदेव-पुत्र श्रीकृष्ण थे। इसकी विशेषता यह है कि इसमें यज्ञ तथा कर्मकाण्ड को मानते हुए भी उसको मुख्य नहीं माना गया, ईश्वर-भक्ति तथा स्वधर्म-पालन को ही सर्वाधिक महत्व दिया गया। यह सम्प्रदाय सात्वतों अर्थात् यादवों में प्रचलित था।

भारतीय आर्य-संस्कृति के विकास में प्राचीन आर्यों का योगदान : भारतीय संस्कृति एक महान नद के समान है, जो समय के मैदान में प्रवाहित होती है। इस नद में अनेक निर्झरों, नदियों तथा महानदियों ने अपने-आपको समर्पित किया और यह नद क्रमशः विशालतर बनता गया। आगे चलकर, कालान्तर में, उसमें शंक, यूची, आभीर, हूण, यूनानी, अफगान, तुर्क, अंग्रेज आदि ने अपना-अपना योगदान दिया। यह नद विशालतर होता गया। दूसरे शब्दों में, भारतीय संस्कृति की एक विशेषता रही है-सर्वाश्लेषी सर्व-संग्राहक प्रवृत्ति।

हाँ, यह सही है कि किसी नयी मानव जाति के सम्पर्क के साथ ही साथ, उस जाति को अपने से दूर रखने, उससे अलग हटने की, उससे अपने को अछूता रखने की प्रवृत्ति भी कम या

अधिक मात्रा में रही आयी। दूसरे शब्दों में, एक ओर पृथक्तावादी पावित्र्यवादी प्रवृत्ति भी रहती। इसका विरोध सर्व-संग्राहक संश्लेषणवादी प्रवृत्ति ने किया। किन्तु हम यह देखते हैं कि, वस्तुतः यह नये और पुराने के बीच का संघर्ष था, जिसमें कम या अधिक मात्रा में, नये ही की विजय हुई। समन्वयकारिणी संश्लेष-प्रधान सर्वसंग्राहक प्रवृत्ति ही प्रधान रही। किन्तु, जब-जब पृथक्तावादी अहम्मन्य प्रवृत्ति का उदय हुआ, भारत में झगड़े हुए और अराजकता मच गयी। किन्तु, अन्ततः, सहिष्णुता, सर्वसंग्राहकता, व्यापक भाव-दृष्टि, उदार हृदय तथा उदार दृष्टिकोण का ही सम्मान हुआ। दूसरे शब्दों में, भारत में संकीर्ण संप्रदायवाद और जातिवाद बराबर बने रहे। किन्तु उनके विरोध में, उदार मानव-धर्म हमेशा उठ खड़ा हुआ। और अन्ततः जीत भी उसी की हुई, संस्कृति का विकास भी उसी ने किया; किन्तु संकीर्णतावादी प्रवृत्ति कभी भी पूर्णतः पराजित नहीं हुई।

आध्यात्मिकता : आर्यों द्वारा प्रदत्त दूसरी विशेषता है अध्यात्म सम्बन्धी। भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक रही है, यह सच है। किन्तु, साथ ही यह भी सही है कि भौतिकवाद या संसारोन्मुख कर्तव्य-भावना की भी हमारे यहाँ कभी कमी नहीं रही। वास्तविक भौतिकवाद प्राचीन काल में भी था। किन्तु, वह प्रभावकारी नहीं हुआ। आधुनिक काल में जब विज्ञान युग आरम्भ हुआ तो आध्यात्मिक प्रवृत्ति के स्थान पर भौतिक-सामाजिक आदर्श ही सामने आये, तथा मानव का प्रधान लक्ष्य मोक्ष न रहकर, संसार, समाज, मानवता और जगत् के कल्याण का आदर्श ही प्रधान हो उठा। हमारी प्राचीन तथा मध्ययुगीन आध्यात्मिकता हमें 'मोक्ष' ही का लक्ष्य प्रदान करती थी।

मत-विश्वास : महत्व की बात यह है कि आर्यों ने पुनर्जन्म और कर्म-बन्धन का सिद्धान्त सामने रखा। भले ही जैन और बौद्ध वैदिक परम्परा को न मानें, वे पुनर्जन्म और कर्म-बन्धन को मानते ही थे। ये मत-विश्वास आज तक चले आये हैं। भारत के केवल कुछ विज्ञानवादी बुद्धिजीवी उसे नहीं मानते। प्राचीन काल में, पुनर्जन्म तथा कर्म-सिद्धान्त को न चार्वाक सम्प्रदाय वाले मानते थे, न आजीवक सम्प्रदाय वाले।

जाति-व्यवस्था : प्राचीन आर्यों ने जिस जाति-व्यवस्था का विकास किया, वह अनेक संशोधन-परिवर्धन के साथ, आज भी उपस्थित है। कुछ विद्वानों का मत है कि प्राचीन आर्यों ने जाति-व्यवस्था उत्पन्न करके उसके द्वारा भारतीय समाज में आर्यतरों को स्थान देकर महत्वपूर्ण कार्य किया। इस प्रकार,

हमने बाहर से आयी हुई अनेकानेक आर्यतर जातियों को हिन्दू बना लिया। फलतः हिन्दू समाज और संस्कृति दृढ़ हुई और बाह्य आक्रमणों से उसकी रक्षा हो सकी। कुछ विद्वानों का कथन है कि इसके फलस्वरूप आज भी जगत् में हिन्दू धर्म सुरक्षित है।

किन्तु सच तो यह है कि इस जाति-व्यवस्था के भीतर, ऊँच-नीच का भेद था। मानव-समानता के सिद्धान्त का यह ज्वलन्त विरोध था। यही कारण है कि मध्य युग के आरम्भ के बहुत पहले से, बहुत लोगों ने जाति-व्यवस्था का (वर्णाश्रम धर्म का) विरोध किया।

बौद्ध धर्म ने सबसे पहले जाति-व्यवस्था को गहरी चोट पहुँचायी। बौद्ध धर्म के हास के बाद फिर से पौराणिक धर्म का सहारा पाकर वर्णाश्रम धर्म उठ खड़ा हुआ। किन्तु मध्य युग के साधु-सन्तों ने, विशेषकर कबीर जैसे निर्गुणवादियों ने, जाति-व्यवस्था का उग्र विरोध किया। भक्ति आन्दोलन में शूद्र समझी जाने वाली जातियों ने बहुत बड़ा काम किया। उन्होंने अनेकानेक साधु-सन्त उत्पन्न किये। धर्म को मानव-धर्म बनाया। इनके स्वर में स्वर मिलाकर, भावुक उच्चवर्णीय साधुओं ने भी कहा, जैसे चण्डीदास ने-

“शुनह मानुष भाई

शाबार उपरे मानुष सत्य

ताहार उपरे नाई”

हे मनुष्यों, सुनो!! मनुष्य सत्य सर्वोच्च सत्य है, उससे उच्चतर कोई भी सत्य नहीं है।

आज के ज़माने में जातिवाद उग्र रूप धारण कर चुका है। मध्य युग में उसका रूप धार्मिक एवं सामाजिक था। अब उसने सामाजिक तथा राजनैतिक रूप धारण किया है।

फिर भी आधुनिक युग के प्रसार के साथ जातीय बन्धन शिथिल भी होते जा रहे हैं। विज्ञानवादी दृष्टिकोण के फलस्वरूप, मानव-साम्य का दृष्टिकोण भी प्रधान हो उठा है। साथ ही सार्वजनिक संस्थाओं में तथा मन्दिरों में अस्पृश्य समझा जाने वाला दलित वर्ग भी आ-जा सकता है। वर्तमान उद्योग-प्रधान सभ्यता का ज्यों-ज्यों विकास होता जायेगा और उसका प्रभाव घनीभूत होता जायेगा, त्यों-त्यों जाति-व्यवस्था की संकुचित दीवारें भी गिरती जायेंगी, यह एक निर्विवाद तथ्य है।

...क्रमशः जारी

साभार : मुक्तिबोध रचनावली, भाग 6

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26196356, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904, ईमेल : notowar@rediffmail.com

वेबसाइट : isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए